ॐ

जीवन-सोपान

प्रकाशक—

श्री १०८ श्रीस्वामी जगदीशानन्द सरस्वती

गङ्गामहल मठ काशी

लेखक—

रमाकान्त ब्रह्मचारी

सम्वत् २००७

❋ ॐ नमः शिवाय ❋

॥ श्री काशी विश्वनाथो विजयतेतराम् ॥

जीवन-सोपान

"श्री गद्दी"
"श्री स्वामी ११०८ विशु-
द्धानन्द सरस्वती"

"श्री स्वामी १०८ परम गुरु
महादेवानन्द सरस्वती"

—:●:—

प्रकाशक —
॥ श्री स्वामी १०८ जगदीशानन्द सरस्वती द्वारा गंगामहल
(घाट) काशी से प्रकाशित ॥

लेखक—
रमाकान्त ब्रह्मचारी
श्री नैमिष-ऋषिकुल ब्रह्मचर्य्याश्रम नैमिषारण्य-सीतापुर।

सम्वत् २००७

मूल्य—१)
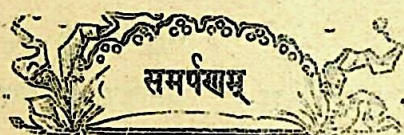
आराध्यचरण !

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागत है मोर॥

आपही एकमात्र हमारे हैं, हमारे जीवन के कर्णधार आप ही हैं। अतः यह भेंट भी आपके चरण कमलों में सादर समर्पित करता हूँ।

समर्पक—

रमाकान्त ब्रह्मचारी
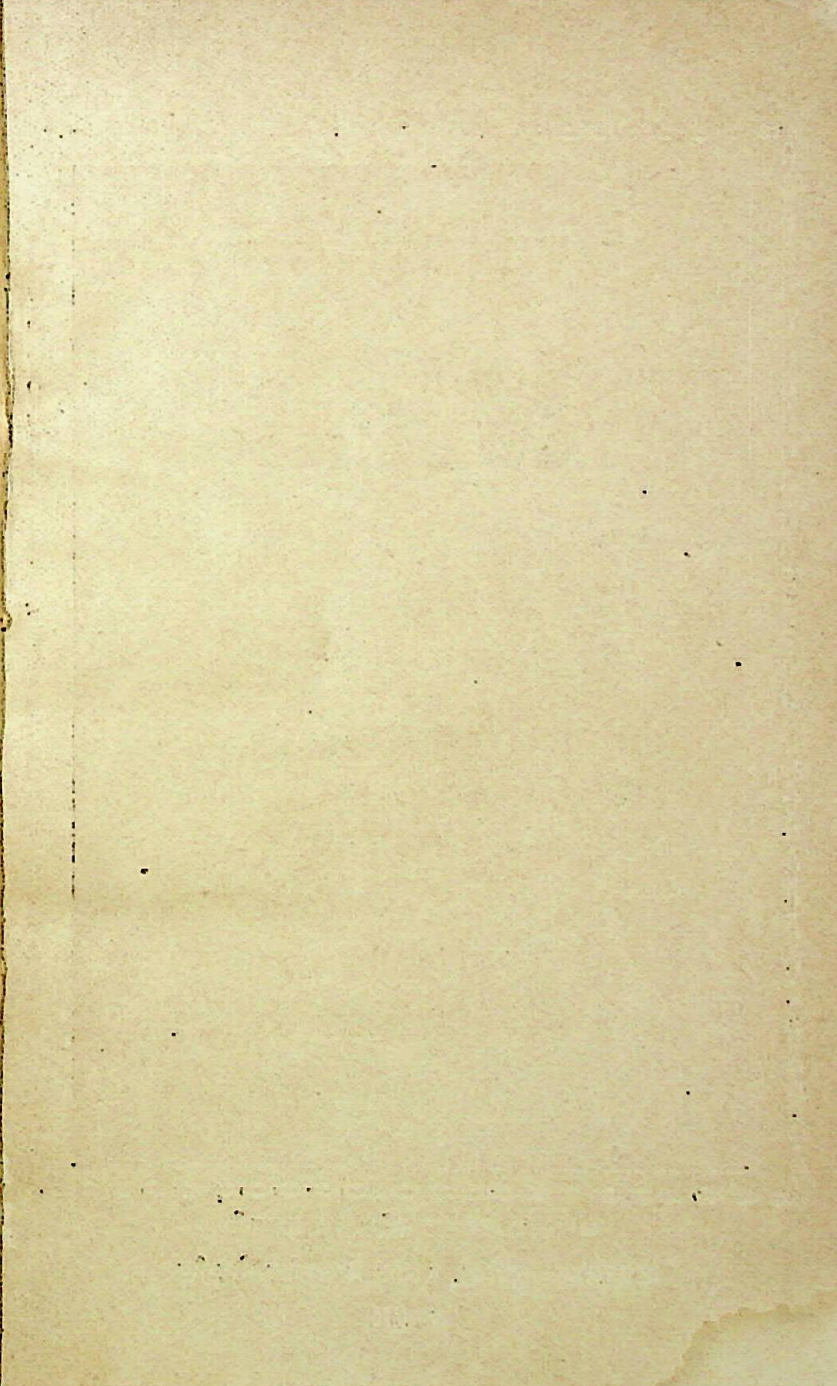
श्री १०८ स्वामी जगदीशानन्द सरस्वती

जन्मस्थान—छुधौली, परगना व तहसील भोगनीपुर

कानपुर

प्रकाशक का संक्षिप्त परिचय

पुस्तक-प्रकाशक श्रीस्वामी जी का परिचय देते हुए मुझे यह अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि उन्होंने अपनी अहैतुकी कृपा से धार्मिक मानव-समाज को सच्चा मार्ग दिखाने के लिए मुझे इस पुस्तक लिखने का आदेश दिया। यद्यपि मैं कोई लेखक अथवा उपदेशक नहीं हूँ फिर भी मैं अपने पूज्य चरण श्रीगुरुदेव जी की कृपा और शक्ति का आश्रय लेकर इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सका हूँ।

श्रीस्वामी जी ने अपने एक बृहत्परिवार को छोड़कर तथा धनधान्य-सम्पन्न आदर्श भवन की मोह-ममता का त्याग करके महत्तम जीवन लक्ष्य को दृढ़ करते हुए सन्यास आश्रम ग्रहण किया। इन्होंने धार्मिक जगत के उपकार के लिए बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर अपने स्थान में ही सेवा करते रहे। स्वामी जी का जन्म स्थान कानपुर जिले की भोगिनीपुर तहसील में बुधौली ग्राम था। विप्रवंश में उत्पन्न होकर स्वामी जी ने अपना जीवन सार्थक किया। भूतपूर्व पं० जगन्नाथ प्रसाद तिवारी के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने चारों आश्रमों का नियम से पालन किया और अन्तिम अवस्था में गंगामहल मठ में जाकर दीक्षा ग्रहण की। इनके गुरुदेव श्री स्वामी गोकुलानन्द जी सरस्वती ने इन्हें सविधि दण्ड और सन्यास दीक्षा देकर श्रीजगदीशानन्द सरस्वती के योगपट से विभूषित किया। वर्तमान समय में इसी काशी के गंगामहल मठ में अपने गुरुदेव के समीप ज्ञानार्जन कर रहे हैं। श्री स्वामी जी ने कई पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया है तथा दुर्गाजी, शिवजी एवं गणेश, भैरव आदि की महोत्सव-पूर्वक प्रतिष्ठा करके धार्मिक समाज का बड़ा उपकार किया है।

काशी के गंगामहल मठ में श्री शिवलिंग की प्रतिष्ठा करके ब्राह्मणों एवं सन्यासी समुदाय को विधिवत् भोजन करवाया अपने जन्म-स्थान में भी श्री हरदेव भगवान के दरवाजे सीढ़ी व तालाब में घाट बनवाया इस प्रकार श्री स्वामी जी ने जनता की सेवा को धार्मिक रूप दिया। पुस्तक प्रकाशन में श्री स्वामी जी ने पूर्ण सहयोग देकर असहायियों के एक मात्र सहायक श्री काशी विश्वनाथ की है। परमपिता परमात्मा की पूर्ण कृपासे श्री स्वामी जी अपने जीवनचर्या को भी भगवती भागीरथी से प्रदान अंक में सहर्ष त्रिता रहे हैं।

॥ इति ॥

निवेदक—

चैत्र पूर्णिमा
२००७ वि०
काशी

रमाकान्त ब्रह्मचारी
श्री ऋषि कुल ब्रह्मचर्याश्रम
नैमिषारण्य

भूमिका

संसार के जितने प्राणी हैं, उन सबकी एकमात्र अभिलाषा यही है कि हमें पूर्ण अक्षय सुख मिले और हमारे सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति हो जाय। ठीक है, जब उन्हें अपनी इस पुष्ट अभिलाषा का सौम्य रूप देखना है तो अपने जीवन का कर्त्तव्य सोचें। मानव के लिए यह असम्भव बात नहीं है। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि इस सौभाग्यशील मानव जीवन को पाकर यों ही नष्ट न कर दें।

संसार के सम्पूर्ण प्राणी चार वस्तुओं में आबद्ध हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन। परन्तु मानव शरीर के लिए धर्मशास्त्रों ने यही एक-मात्र जीवन के साधन नहीं बताए हैं। उसके लिए तो धर्म गुरुओं ने नाना प्रकार की श्रुति-स्मृतियों में मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के निमित्त ही धर्म विवेचन किया है। विधि, निषेध का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है। मानव मात्र के लिए एक धर्म ही ऐसा उत्तम साधन है कि जिससे वह अपने ऐहलौकिक कर्मानुष्ठानों को करता हुआ पार-लौकिक सिद्धि को प्राप्त करता है। मानव की एकमात्र यही विशेषता है।-

"धर्मोहि तेषामधिको विशेषः, धर्मेण हीनाः पशुभिः सामानाः।

आधुनिक काल के अशान्तिमय वातावरण में मानव की मानवता लुप्तप्राय हो चली है। सम्पूर्ण जगत दानवता के रूप को प्राप्त होकर मानवता से कोसों दूर हटने की तैयारी कर रहा है। आज उसे इस भीषण परिस्थिति में अपने का कुछ भी ज्ञान नहीं। पाश्चात्य सभ्यता के तुमुल शंखनाद ने हमारी आर्य जनता के कान बहरे कर दिए हैं। जिससे कि आज भी भारतीय मानव-समाज उसी सभ्यता का अनुगामी बना हुआ है। हिन्दू संस्कृति के रूप को विलुप्त करने के लिए नानाविधि प्रयत्न होते हुए भी भारतीयता के गौरव को अक्षुण्ण रखने वाले महापुरुषों ने आकर इस भारत देश को समय-समय पर अपना संदेश दिया। परिणाम-

स्वरूप आज भी मानव अपनी संस्कृति को जिस किसी प्रकार रक्खे हुए हैं। यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता तथा अन्य वैदेशिक सभ्यताओं के आगमन से प्राची का अरुणोदयकुछ मन्द हो चला था। परन्तु हिन्दुत्व के कट्टर उपासकों ने अपने जीवन में कभी भी इस संस्कृति का कलेवर जीर्ण नहीं होने दिया। महाराणा प्रताप, छत्र पति शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह आदि ऐतिहासिक प्रमाण पर्याप्त हैं।

इधर धार्मिक जगत में भी युग-युग के प्रवर्तक तथा तत्कालीन रूढ़ियों एवं अनीति, अधर्म के संहारक इस धराधाम को अलंकृत करते रहे। इतना सब कुछ होते हुए भी धार्मिक समाज अपने कर्त्तव्यों से शनैः शनैः उदासीनता ग्रहण करने लगा और देश, धर्म, जाति पर होने वाले नाना प्रकार के कुकर्मों पर भी मूकता का ही परिचय देने लगा। आधुनिक काल की इस भीषण परिस्थिति में प्रत्येक मानव को हिन्दू के नाते प्रयत्नशील अवश्य होना चाहिए।

धार्मिक समाज की दृष्टि अब अपने धर्म, कर्म की रक्षा पर पूर्णरूपेण होना आवश्यक है क्योंकि इस पृथ्वी पर अनेकों प्रकार की लीलायें हो रही हैं। मनुष्य यदि किसी पर विजय पा सकता है तो वह धर्म पर डटे रहने पर सम्भव है तथा आज कल "संघे शक्तिः कलौ युगे" को ही अपना कर विजय प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक मानव पर अपनी सहानुभूति होनी चाहिए। एकमात्र यही उपाय आधुनिक जगत के लिए पर्याप्त है। इस संगठन के सम्पादन में प्रार्थना का सामूहिक गायन पूर्ण सहयोगी है। महामना मालवीय जी का अन्तिम सन्देश यही था कि—मातृभूमि, धर्म, संस्कृति और अपने हिन्दू भाइयों के प्रति हिन्दू नेताओं को अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। हिन्दू समाज प्रार्थनादि साधनों के द्वारा संगठित होकर अपने हिन्दू. हिन्दी और हिन्दुस्थान के जयघोष को सफल बनावें। अस्तु—

मनुष्य को अपना जीवन धर्मशास्त्रों के ही आधार पर बनाना चाहिए तथा तदनुकूल विधि एवं आचरण से मानव अपने साध्य की सिद्धि कर

सकता है। शास्त्रोक्त विधि का पालन तथा निषेध का परिहार ही मानव-जीवन की सार्थकता का मूलमन्त्र है। अन्तःकरण की शुद्धि से साध्य सिद्धि सहज प्राप्य है तथा शारीरिक शक्तियों का संचय उस उत्कृष्ट लक्ष्य का सहायक है। अस्तु, प्रत्येक मानव अपना जीवन सफल बनाने के लिए धर्मपूर्वक आचरण करे तथा समाज के प्रति अपना कर्तव्य रखते हुए हेय प्रवृत्तियों का परिहार करके सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का शुद्ध सनातन मार्ग दिखावें।

नारी-समाज को अपना कर्त्तव्य अवश्य पालन करना चाहिए, क्योंकि सन्तति का पूर्ण भार इसी नारी समाज पर है।

जीवन-सोपान नाम की पुस्तक में उपरोक्त बातों पर ही प्रकाश डाला गया है। धार्मिक नर-नारी-समाज अपने जीवन में इससे पूर्ण लाभ उठा सकते हैं तथा साध्य की सिद्धि भी श्रुति स्मृतिप्रतिपादित कर्मानुष्ठानों से कर सकते हैं। इस पुस्तक में जो कुछ भी लिखा गया है वह परम-पूज्य प्रातःस्मरणीय श्री गुरुदेव का ही प्रसाद है। उनकी कृपा के द्वारा ही आज उन्हीं गुरु चरणाम्बुजों के महत्तम प्रसाद से यथाशक्ति प्रयास किया है। मेरा कुछ भी नहीं है। उनके ही दिये हुए ज्ञान का यह जीवन सोपान संग्रह है।

भाषा लेखन में जो कुछ त्रुटि हो गई हो, उसे पाठक गण अवश्य क्षमा करेंगे। क्योंकि प्रथम बार ही इस समाज के सम्मुख इस प्रकार की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

अतः—

"शूर्पवद्दोषमुत्सृज्य गुणं गृह्णन्ति साधवः" का ध्यान अवश्य रक्खेंगे तथा मुझे उत्साहित करेंगे।

चैत्र पूर्णिमा २००७ वि० }

भवतां वशंवदः
रमाकान्त ब्रह्मचारी

विषय सूची

—*—

श्रीगणेशायनमः

विराजतां सा जननी सरस्वती

मंगलाचरण---

खर्वं स्थूल तनुं गजेन्द्र वदनं लम्बोदरं सुन्दरं,
प्रस्यन्मदगन्ध लुब्ध मधुप व्यालोल गण्ड स्थलम् ।
दन्ताघात विदारि तारि रुधिरैः सिन्दूर शोभाकरं,
वन्दे शैलसुता सुतं गण पतिं सिद्धि प्रदं कामदम् ॥१॥
गजाननं भूत गणाधि सेवितं कपित्थ जम्बू फल चारु भक्षणम् ।
उमासुतं शोक विनाश कारकं नमामि विघ्नेश्वर पाद पंकजम् ।
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र रुद्र मरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै,
र्वेदैः साङ्ग पद-क्रमोप निषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थित तद् गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो,
यस्यान्तं न विदुः सुरा सुर गणाः देवाय तस्मै नमः ॥३॥
कालाम्भोधर कान्ति कान्त मनिशं वीरासना ध्यासिनं,
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि ।
सीता पार्श्वगतां सरोरुह करां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तं न मुकुटांगदादिविविधा कल्पोज्वलोङ्गां भजेत् ॥४॥

सानन्द मानन्द वने वसन्तं आनन्द कन्दं हतपाप वृन्दम् ॥
वाराणसी नाथ मनाथनाथं श्री विश्वनाथं शरणं प्रपद्ये ॥५॥
यस्य स्मरण मात्रेण जन्म संसार बन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥६॥
नमः समस्त भूतानामादि भूताय भूभृते ।
अनेक रूप रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे ॥७॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुर वे नमः ॥८॥
ध्यानमूला गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरोः पदम् ।
मन्त्र मूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूला गुरोः कृपा ॥९॥
शारदा शारदाम्भोज वदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सवदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥१०॥

ब्राह्म मुहुर्त में मनुष्य स्थिर चित्त होकर उठे और भगवान का ध्यान करे। तदनन्तर पृथिवी माता पर अपने चरण रखे। पृथिवी माता को इस मन्त्र से नमस्कार करे।

समुद्र वसने देवि। पर्वत स्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्वमे ॥

प्रत्येक पुरुष को ब्राह्म मुहूर्त्त में ही उठ जाना चाहिये। क्योंकि लिखा है। "ब्राह्मे मुहूर्त्ते या निद्रा सा पुण्य क्षयकारिणी" इसलिये ब्रह्म वेला में ही उन्नतशील पुरुष को धर्म और अर्थ की चिन्तना करनी चाहिये।

"ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्ममर्थञ्च चिन्तयेत् ॥"

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी आता है कि—

"ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ॥"

हमारा प्रतिदिन निर्विघ्न समाप्त होवे इसके लिए प्रार्थना करें कि—

ब्रह्मा मुरारी त्रिपुरान्तकारी भानुः शशिः भूमि सुतो बुधश्च ।
गुरुश्च शुक्रः शनि राहु केतवः सर्वे ग्रहाः शान्तिकराः भवन्तु ॥

आसन से उठकर शौच स्नानादि से निवृत्त होकर सन्ध्या-वन्दन करे। क्योंकि सन्ध्योपासन ही हमारे दैनिक पापों की निवृत्ति का हेतु है। इसके न करने से हमें अपने कर्तव्य से वंचित होना पड़ता है तथा वर्णाश्रम धर्म के अनुसार अपनी स्थिति का परिचय देने में भी हीनता प्रतीत होती है। नित्य कर्म नियम पूर्वक न करने से पाप होता है। अतः धर्म और शरीर की रक्षा के लिए नित्य कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है। धर्म का साधन वास्तव में शरीर ही है तथा शरीर को ओजस्वी, तेजस्वी एवं शुद्ध बनाने के लिए नित्य कर्म है।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"

शरीर के रक्षण हेतु नियमतः आहार, विहार की शुद्धि आवश्यक है। क्योंकि "आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः" होती है। इसलिए सर्व प्रथम भोजन किस प्रकार का करना चाहिए जिससे कि शारीरिक तथा मानसिक रोगों की पीड़ा न सता सके। श्रीमद् भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में भगवान ने तीन प्रकार के भोजन का वर्णन किया है।

(१) सात्विक आहार—

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः ॥
(गीता १७—१८)

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रस युक्त चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय लगने वाले भोजन के पदार्थ सात्विक कहे गए हैं जो कि सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

(२) राजस आहार—

कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामय प्रदाः ॥२॥
(गीता १७—९)

कडुवे, खट्टे लवण युक्त अति गरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार रजोगुणी कहे गए हैं जो कि राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

(३) तामस आहार—

यात यामं गत रसं पूति पर्यु षितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम् ॥३॥
(गीता १७—१०)

जो भोजन अधपका कच्चा, रसरहित और दुर्गन्धि युक्त एवं बासी, उच्छिष्ट (जूँठा) है। जो अपवित्र भी है वह भोजन तमोगुणी होता है और तामसी स्वभाव वाले पुरुषों को अच्छा लगता है।

प्रत्येक मनुष्य की वृत्तियाँ प्रतिदिन बदला करती हैं कभी सात्विक वृत्ति होती है तो कभी राजसी और कभी तामसी। यह वृत्तियां मन के द्वारा ही हुआ करती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह यदि अपनी वृत्तियां को शुद्ध करना चाहे तो उपरोक्त कहे हुए सात्विक आहार का ही सेवन तथा जिससे रोग शोकादिक की शंका हो ऐसे पदार्थों का सेवन न करना चाहिये। भोजन करते समय अपनी भावना शुद्ध रखनी चाहिए तथा अन्न को साक्षात् ब्रह्म समझकर उसका दुरुपयोग न करते हुए पाना चाहिए। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि "अन्नं ब्रह्म इति व्यजानीयात्" भोजन की निन्दा करना भगवान की निन्दा करना है इसलिए इसका सतत ध्यान रखना चाहिए।

प्रत्येक मानव को अपना चरित्र आचरण प्रति दिन देखना चाहिए। साथ ही साथ यह भी विचारना चाहिये कि हमारा आज का व्यवहार सज्जनों की तरह हुआ है अथवा पशुओं के तुल्य ही। जैसा कि कहा गया है।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरित मात्मनः।
किन्तु मे पशुभिस्तुल्यं किन्तु सत्पुरुषैः समम् ॥१॥

मनुष्य जैसा संग करेगा वैसा ही बन जायगा यदि सज्जनों के संसर्ग में रहकर उसने ज्ञान सम्पत्ति लूटी है तो वह ज्ञानी तपस्वी आदि शुद्ध आचरण वाला होगा। इसके विपरीत दुष्ट लोगों के साथ सम्पर्क करने पर क्रोधी कामी, द्वेषी, कलह प्रिय, क्रूर, आतत्यायी बन जाता है।

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा —

को न कुसंगति पाइ नसाई, रहइ न नीच मते चतुराई।
वरु भल वास नरक कर ताता, दुष्ट संग जनि देइ विधाता ॥

महाभारत के शान्तिपर्व में भी लिखा है कि—

या दृशैः सन्नि वसति यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ॥ (२९६·३२)

जैसे पुरुषों के साथ रहता है, जैसे पुरुषों की सेवा, शुश्रूषा करता है और इसके साथ जैसा मनुष्य बनने की इच्छा करता है वैसा ही वह हो जाता है ।

इसलिए दुष्ट पुरुषों का संग छोड़ देना चाहिए उनका संग करने से वह स्वयं नष्ट होते हैं और दूसरों को भी भ्रष्ट पथ की ओर ले जाते हैं ।

दुष्टों के लक्षण

तिन्ह कर संग सदा दुख दाई ।
जिमि कपि लहिं घालहि हरिहाई ॥
खलन हृदय अति ताप विशेषी ।
जरहिं सदा पर सम्पति देखी ॥

जहँ कहुँ निन्दा सुनहि पराई । हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई ॥
काम क्रोध मद लोभ परायन । निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
वयरु अकारन सब काहूँ सों । जो करु हित अनहित ताहू सो ॥
झूठइ लेना झूठइ देना । झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा । खाहिं महा अहि हृदय कठोरा ॥

पर द्रोही पर दार रत, पर धन पर अपवाद ।
ते नर पाँवर पाप मय, देह धरें मनुजाद ॥३९॥

लो यह ओढ़न लो यह डासन । सिस्नोदर पर जमपुर भासन ॥
काहू की जो सुनहिं बड़ाई । स्वांस लेहिं जनु जूड़ी आई ॥
जब काहू की देखहिं विपती । सुखी होहिं मानहु जग नृपती ॥
स्वारथ रत परिवार विरोधी । लम्पट काम लोभ अति क्रोधी ॥

मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहि आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिन्धु मन्द मति कामी। वेद विदूषक पर धन स्वामी॥
विप्र द्रोह पर द्रोह विशेषा। दम्भ कपट जिय धरे सुवेषा॥

सन्तों के लक्षण

सन्तन के लक्षण सुनु भ्राता। अगणित श्रुति पुरान विख्याता॥
सन्त असन्तहि कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज सुन देहिं सुगन्ध बसाई॥

ताते सुरसी सन चढ़त, जग वल्लभ श्री खण्ड।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु बदन यह दण्ड॥

विषय अलम्पट शील गुणाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूत रिपु विमद विरागी। लोभा मरष हर्ष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मय भगति अमाया॥
सबहिं मान प्रद आपुअमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
विगत काम मम नाम परायन। शान्ति विरति विनती मुदितासन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जन यत्री॥
सम दस नियम नीति नहिं डोलहि। परसु वचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कञ्ज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय, गुन मन्दिर सुख पुञ्ज॥

सन्त और असन्त के लक्षण स्पष्ट बता दिये गये हैं। मनुष्य अपने विवेक बल से सन्तों के गुणों को ग्रहण करे तथा अपने में रहने वाले अवगुणों को दूर करते हुए दुष्टों के सम्पर्क में न पड़े क्योंकि "संसर्गजा दोष गुणाः भवन्ति" संसर्ग से ही दोष और गुण हुआ करते हैं। यदि हम सबको वास्तविक दैवी सम्पत्ति

वाला मनुष्य बनना है तो हम उन्हीं गुणों को धारण करें जिनका कि निर्देश श्रीमद् भगवद् गीता के सोलहवें अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है।

दैवी स्वभाव वाले पुरुषों के लक्षण—

अभयं सत्व संशुद्धि ज्ञानयोगव्य वस्थितिः
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥

श्रीकृष्ण भगवान गीता में अर्जुन को निमित्त बनाकर सम्पूर्ण मानव समुदाय को दैवी स्वभाव का ज्ञान कराते हुए कह रहे हैं कि दैवी स्वभाव वालों में भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की अच्छी प्रकार से स्वच्छता, ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा से परमात्मा के रूप में एकीभाव से निरन्तर ध्यान लगाना तथा सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कामों का आचरण एवं वेद शास्त्रों के पठन-पाठन पूर्वक भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्तः करण की सरलता पाई जाती है। गीता के १६ वें अध्याय के दूसरे और तीसरे श्लोक तक दैवी स्वभाव कथित २६ गुणों का वर्णन है।

अहिंसा सत्य मक्रोधस्त्यागः शान्तिर पैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दवं ह्री रचापलम् ॥२॥

इन पुरुषों में अहिंसा का भाव अर्थात् मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण (अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे का वैसा ही प्रिय शब्दों में कह देना) अपना

अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग अर्थात् जो कुछ किया है सब भगवान की शक्ति से ही हुआ है मैं केवल निमित्त मात्र हूँ ऐसी ही बुद्धि रहना, अन्तःकरण की स्थिरता अर्थात् चिन्ह की चञ्चलता का अभाव होता है। वे पुरुष किसी की भी निन्दा नहीं करते हैं तथा सब प्राणियों में जिस प्रकार लिखा है कि 'सर्वभूतहितेरताः'' की भावना रखते हुए हेतुरहित दया करना प्रत्युपकार की तनिक भी भावनान होनी चाहिए।

"राग द्वेष विमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियै श्चरन्"

राग द्वेष से रहित होकर वशीकृत इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगते हुए भी उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। दैवी स्वभाव के पुरुष इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी आसक्ति का अभाव रखते हैं। केवल शास्त्र मर्यादा का पालन ही इष्ट है। उन पुरुषों में कोमलता का ही मन, वचन, कर्म से भान होता है तथा लोक और शास्त्र विरुद्ध जो आचरण हैं। उनसे लज्जित होते हैं। अर्थात् उनको नहीं करते हैं जैसा कि स्पष्ट प्रकट है कि—

"यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं नाकरणीयम् नाचरनीयम्"

उन शुद्ध चित्त वाले पुरुषों में कुचेष्टाओं का अभाव रहता है। अपनी स्थिति का परिचय देने के लिए भी वे शक्ति सम्पन्न, पवित्रता के पुजारी तथा क्षमा, धैर्य से पूर्ण एवं शुद्ध अन्तः करण वाले होते हैं।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

दैवी शक्ति सम्पन्न पुरुषों के सहज व्यक्तित्व से अन्यायपथ

पर चलने वाले भी उसके कथनानुसार सरल तथा सीधे मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं। वे पुरुष "मनस्येकं वचस्येकं कायस्येकं महात्मनाम्" के उपासक होते हैं। अन्तः करण में छल, कपट न होना। किसी से भी शत्रु भाव न रखना। यदि शत्रुता ही निभाना हो तो अपनी इन्द्रियों से तथा मन से शत्रुता रखे। क्योंकि श्री शङ्कराचार्य ने भी कहा है कि शत्रु कौन है—

"के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि"

अपनी इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं बाहरी शत्रु कोई भी नहीं है और यदि उन्हीं को जीत लिया जाय तो वही मित्र हैं।

तान्येव मित्राणि जितानि यानि"

उन पुरुषों का एक विशेष लक्षण यह है कि उनमें पूज्यता के अभिमान का अभाव रहता है। मान की उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती वे तो दूसरों को ही मान दिया करते हैं। "सबहि मानप्रद आपु अमानी" यही उनका भूषण है। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का एक दोहा निर्देश करता है कि—

उमा जे रामचरणरत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध॥

यह केवल उन्हीं पुरुषों का अलंकार है जो कि क्रोधादिक से रहित "सीयराम मय सब जग जानी" समझते हैं। आज रात कलिकाल में इन उपरोक्त गुणों से सम्पन्न मानव देवता रूप ही कहे जा सकते हैं। परन्तु उसके विपरीत भी एक शक्ति कार्य करती है क्योंकि सम्पूर्ण जगत द्वन्द्व मय है ही। इसलिये संक्षेपतः आसुरी स्वभाव के पुरुषों का भी निर्देश कर देना आवश्यक है।

क्योंकि जब तक हम विपरीतता तथा दोष सिद्ध न करें तब तक उनसे कैसे बचेंगे ।

आसुरी स्वभाव वाले पुरुषों के लक्षण

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्य मेवच ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
(गीता १६—४)

आसुरी प्रकृति के पुरुषों में दम्भ, पाखण्ड, अभिमान, क्रोध कठोर वाणी तथा अज्ञान रहता है । असत्य के उपासक होते हैं । वे कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं पहचानते हैं ! जगत को आश्रय रहित सर्वथा झूठा, विना ईश्वर के ही इस जगत की उत्पत्ति हुई ऐसा मानते हैं । वे असम्भव कामनाओं की पूर्ति चाहते हैं । चिन्ता और आशा की फांसी में जकड़े रहते हैं । काम, क्रोध; लोभ, मद, मत्सर राग द्वेषादिक के पुजारी होते हैं । तथा मेरे ही परिश्रम से सब कुछ हुआ है । ईश्वर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं मैं ही ईश्वर, सिद्ध, बली एवं धनवान हूं । ऐसे पुरुष कभी भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर पाते । सदा वे सूकर, कूकर, कीट, पतंगादि योनियों में जाते हैं । और नरक की अत्यधिक व्याधि से पीड़ित होते हैं । वे शास्त्र विधि का उल्लंघन करना ही अपने कल्याण का मार्ग समझते हैं । इस लिये भगवद्गीता का यह वचन है कि—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ (गीता १६-२१)

काम क्रोध तथा लोभ यह तीनों प्रकार के नरक के द्वार, सब अनर्थों के मूल हैं । यह आत्मा का बोध नहीं होने देते अर्थात्

आधोगति में ले जाने वाले हैं। इसलिए इन तीनों को समूल नष्ट कर देना चाहिए और इन्हें त्यागने पर ही आत्म बोध में सहायक हो सकते हैं। यह काम एक सर्प है जिसे काट खाता है उसे विषय रूपी नीम चाहे जितने खिलाया जाय कडु नहीं प्रतीत होता

काम भुजंग डसति है जाही, विषय नीम कडु लगत न ताहीं

क्रोध सब पापों का मूल है। "क्रोध पाप कर मूल" यदि प्रत्येक मनुष्य अपना कल्याण तथा भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा हो तो वह इन तीनों को अवश्य त्याग दे, नहीं तो आत्म कल्याण न होगा और इस लोक में वह सुख नहीं पासकता परलोक में भी उसकी गति नहीं होती। इसलिए हमें शास्त्रों की आज्ञा मानकर विधि निषेध को समझते हुए अपने कर्तव्य का पालन करें। क्योंकि लिखा है—

ये शास्त्र विधि मुत्सृज्य, वर्तते काम कारतः
न ससिद्धि मवाप्नोति, न सुखंन परां गतिम्॥ (गीता १६-२३)

भगवान भी उन्हीं के हृदय में बास करते हैं कि जो वास्तव में भक्त हैं और शास्त्राज्ञा से कार्य करते हैं।

श्रीरामचरित मानस के अयोध्याकाण्ड में भक्तों के लक्षण बताये गए हैं। श्रीराम जी के पूँछने पर श्री बाल्मीकि जी ने उन्हें निवास के योग्य कितना सुन्दर स्थान बताया है। हम सब भी भगवान को विठाने के लिये उस हृदय रूपी सिंहासन को अलंकृत करें तथा जो लक्षण भक्तों के होते हैं उसी प्रकार का आचरण बनाना सीखें।

भक्तों के लक्षण

वाल्मीकि जी कहते हैं कि हे राम जी ! आप उस स्थान पर बैठे जहाँ पर भक्त आपको कथा सुनते हुए भी नहीं अघाते हैं।

जिनके श्रवण समुद्र समाना, कथा तुम्हारी सुभग सरिनाना
भरहिं निरन्तर होहिंन पूरे, तिनके हृदय सदन तवरूरे।
लोचन चातक जिनकरि राखे, रहहिं दरस जलधर अभिलाखे
निदरहिं सरित सिन्धु सरिवासी, रूप बिंदु जल होंहि सुखारो।
तिनके हृदय सदन सुखदायक, वसहु बन्धु सियसह रघुनायक।

भगवान भी ऐसे ही भक्तों के हृदय में सतत रहने वाले हैं जिनकी नासिका सदा भगवान की अर्चना में प्राप्त सुरभित पदार्थों की बास का प्राण करती रहती है।

प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुवासा, सादर जासु लह नित नासा।
तुमहिं निबेदित भोजन करहीं, प्रभुप्रसाद पट भूषण धरहीं

जिन भक्तों की प्रत्येक क्रिया केवल आपकी प्रसन्नता हेतु ही हुआ करती है जो निष्काम सेवी हैं। भगवान उन्हें ही अपना दर्शन देते हैं। उनका योग क्षेम भगवान स्वयं करते हैं।

अनन्यांश्चिन्तयंतो मांनित्य युक्ता उपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां, योग क्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९-२२)

जो अनन्य भाव से सदा मेरे में स्थित हुए भक्त मेरा सतत स्मरण रखते हैं। निष्काम भाव से जो मुझे भजते हैं उन पुरुषों का योग क्षेम मैं स्वयं करता हूँ। कहा भी है—

"मामनुस्मर युद्ध्य च" (गीता)

जो भक्त भगवान के केवल इसी आदेश का पालन करते हैं कि जो कुछ करो वह सब मेरे में अर्पण करदो।

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

(गीता ९-२७)

भगवान उन्हें ही अपना परम धाम देते हैं जहाँ पर

न तद्भासयते सूर्यो, न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ॥

(गीता १५-६)

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकाः नेमाविद्युतो भाति कुतोऽयमग्निः" (मुण्डकोपनिषद्)

न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न अग्नि ही तथा जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते हैं वही मेरा परमधाम है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

(गीता ८-२१)

जो अव्यक्त अक्षर है, उसही अक्षर नाम अव्यक्त भाव को परम गति कहते हैं तथा जिस भाव को प्राप्त कर फिर आवागमन नहीं होता है वही मेरा धाम है। मैं इसी धाम में अपने उन

एक मात्र अनन्य उपासक भक्तों की रक्षा ऐसे ही करता हूँ कि जैसे माता अपने पुत्र को रक्षा करती है।

"करौं सदा तिनकी रखवारी, जिमि बालकहिं राखु महतारी"

वाल्मीकि जी ने आगे भी भक्तों के लक्षण कहे हैं कि जो

सीस नवहिं सुर-गुरु द्विज देखी, प्रीति सहित कर विनय विशेषी
करहिं राम तीरथ चलि जाहीं, राम बसहु तिनके मनमाहीं।
कर नित करहिं राम पदपूजा, राम भरोस हृदय नहिं दूजा।
मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा, पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा
तरपन होय करहिं विधि नाना, विप्र जिवाहि देहिं बहु दाना
तुम ते अधिक गुरुहि जिय जानी, सकल भाव सेवहिं सनमानी।

भगवान ऐसे हो अपने अनन्य को अवश्य शरण में रख लेते हैं और उन्हें अपने सामने से एक क्षण भी दूर नहीं करते। भगवान के समान कोई भी दयालु नहीं है जिनके केवल एक बार स्मरण से ही द्रौपदी का चीर वस्त्रालय हो गया। गजेन्द्र की पुकार ने भगवान का हृदय ही लेलिया। अजामिल ने एक बार नाम लेने से ही सद्गति पाई। उन परम पिता परमेश्वर को हम कैसे भूलें। भगवान तो सदा भक्तवत्सल हैं। वे तो भक्तों के वश में हो रहे हैं। भगवान यहीं निवासस्थान बनाना चाहते हैं।

काम क्रोध मद मानव मोहा, लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।
जिनके कपट दम्भ नहिं माया, तिनके हृदय बसहु रघुराया।
सबके प्रिय सबके हितकारी, दुख सुख सरिस प्रशंसा[illegible]ारी।
कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी, जागत सोवत शरण तुम्हारी

तुम्हहिं छाड़ि गति दूसर नाहीं, राम बसहु तिनके मन मांहीं।
जननी सम जानहिं पर नारी, धन पराव विष से विष भारी।
जे हरषहिं पर सम्पति देखी, दुखित होहिं पर विपति विशेषी।
स्वामि सखा गुरु मातु पितु, जिनके सब तुम तात।
मन मंदिर तिनके बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥

भक्त जिन भगवान के चरण कमलों पर अपना तन, मन, धन सब न्यौछावर किये हैं तथा जो भवसागर के पार लगाने वाले हैं वे ही भगवान भक्तों के सब कुछ हैं।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

शास्त्र के वचनों का जो पालन करने वाले हैं और मर्यादा के अनुसार हो विधि-पथ के सेवी हैं वही भक्त हैं।

अवगुन तजि सब के गुण गहही, विप्र-धेनु हित संकट सहहीं।
नीतिनिपुन जिनकी जग लीका, घर तुम्हार तिन्हकर मननीका।
गुण तुम्हार समुझै निज दोसू, यहि सब भाँति तुम्हारे भरोसू।
जाति पाति धन धरम बड़ाई, प्रिय परिवार सदन सुखदाई।
सब तजि तुम्हहि रहहि उरलाई, तेहिके हृदय रहहु रघुराई॥
जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥

भगवान के भजन वास्तव में भक्त ही हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी भक्त कुछ नहीं माँगते। माँगते हैं केवल—

"जन्म जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन"

धन्य हो भक्त और उनके भगवान। जिन्होंने सर्वस्व एक दूसरे पर लुटा दिया है। भक्तों की केवल यही एक रीति रही—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्

(भागवत ११ स्कं० २-२६

भागवत में भी एकादश स्कन्ध के द्वितीयाध्याय में लिखा है।

न काम-कर्म बीजानां यस्य चेतसि सभंवः।
वासुदेवैकनिलयः सर्वे भागवतोत्तमः ॥५०॥

न यस्य स्वः पर इति विशेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूत स यः शान्तः सर्वे भागवतोत्तमः ॥५२॥

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुंठस्मृति-
रजितात्म सुरादिभिर्विमृज्ञात्।
न चलति भगवत्पदारविंदाल्लव-
निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्रयः ॥५३॥

विसृजति हृदयन्न यस्य साक्षात्
हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ॥
प्रणयरशनयाधृतांघ्रि - पद्मः
स भवति भागवत प्रधान उक्तः ॥५५॥

भावार्थः—भक्त मनसा, वाचा, कर्मणा अपनी सब क्रियाएँ भगवान् को समर्पित कर देते हैं। उन भक्तों के चित्त में काम-वासना स्थान नहीं रखती। केवल भगवान के ही पादपद्मों का सतत चिन्तन उन्हें इष्ट रहता है। अपने और पराये शरीर अथवा धन का कोई भी भेद नहीं प्रतीत होता। वे तो "वसुधैव कुटुम्बम्" तथा "सर्वभूतहिते रताः" के अनुयायी हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के वैभव को वे तुच्छ समझते हुए भगवत्पाद-सेवन नहीं भूलते। उन भक्तों की ममता स्त्री, धन, पुत्रादिक से हटकर एकमात्र भगवान के चरणों में लग जाती है।

जननी जनक बन्धु सुत दारा, तन धन धाम सुहृद परिवारा।
सबकी ममता तासु बटोरी, मम पद मनहिं बाँधि बर डोरी॥

भगवान वेदव्यास जी ने ऐसे ही भक्तों को श्रेष्ठ माना है।

आदर्श भक्त—"कञ्चन को मृत्तिका सम जानत, कामिनि काष्ठ शिला पहिचानत" के अविचल पुजारी होते हैं। वे भगवान की सेवा तथा अन्य कार्य भी करते हुए अपना मन भगवच्चरणारविन्दों में रखते हैं।

कर से कर्म करहिं विधिनाना, मन राखहिं जहँ कृपानिधाना।

श्रीमद् भगवद्गीता के १२ वें अध्याय में भक्तों की सुन्दर व्याख्या की गई है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखः सुखः क्षमी ॥१३॥

सर्वभूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थ-रहित सबका प्रेमी तथा दयालु होना । ममता और अहंकार से रहित, सुख दुख में समान रहना तथा क्षमाशील बनना यह भक्तों का सहज स्वभाव है। वे सब अभिमान को छोड़ते हुए भी केवल इस अभिमान को अपना भूषण समझते हैं।

अस अभिमान जाइ जनि भोरे, मैं सेवक रघुपति पति मोरे।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्ष भयोद्वेगैः मुक्तो यः सच मे प्रियः ॥ (१४,१५)

जो ध्यान योग में लगा हुआ है। लाभ हानि में सन्तुष्ट है तथा मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किए हुए है। मेरे में जो दृढ़ निश्चय रखता है। जिससे कोई जीव उद्वेग को नहीं प्राप्त होता तथा स्वयं भी किसी से उद्वेग को नहीं प्राप्त है। हर्ष, शोक, भय उद्वेगादिक द्वन्द्वां से युक्त होने वाला ही वास्तविक भक्त है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी योमद्भक्तः स मे प्रियः ॥
योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः (१६,१७)

आकांक्षा-रहित, शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित, दुःखों से मुक्त, कर्तापन के अभिमान का त्यागी ही भक्त हो सकता है, अन्य नहीं। वह कभी न तो हर्षित होता है न द्वेष करता है, न शोच करता है और न कामना करता है। उसे किसी कार्य के फल की भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उसने तो यह भगवान का वाक्य याद रखा है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

फल की कामना इसलिये भी नहीं करता है कि वह निष्काम भाव से केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कार्य कर रहा है। यदि फल की इच्छा है तो एकमात्र यही है कि :—

"सब कर मांगहि एक फल, राम चरण रति देहु"

वास्तविक भक्त की पहिचान तो यही है। उन्हें अपना बाह्य शत्रु कोई प्रतीत ही नहीं होता। मान, अपमान में सम, शत्रु-मित्र में सम, शीत-उष्ण के तितिक्षु तथा संसार में अनासक्त बन विचरते हैं। निन्दा, स्तुति को समान समझने वाले तथा मननशील होते हैं। वे अपने निवासस्थान में ममता का अभाव रखते हुए स्थिर चित्त वाले भक्तिमान पुरुष होते हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।

(गीता १८-१९)

जिस मनुष्य की किसी वस्तु-विशेष में आसक्ति होती है, उसका मन ईश्वर का ध्यान नहीं कर सकता, चंचल रहता है। स्त्री, पुत्रादि का सुख और धन, सम्पत्ति अच्छे लगते हैं इसलिए ध्यान के समय इन सबका ही चिन्तन मन में आता है। सबको चाहिए कि संसार में लगी हुई चित्तवृत्तियों को हटाकर भगवान में लगावें। नहीं तो अन्त समय में मनुष्य जिस वस्तु का ध्यान करता है वह इस शरीर के उपरान्त उसी योनि का अधिकारी बनता है। जैसा कि गीता में स्पष्ट है कि:—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ॥
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (गीता ८-६)

पीछे के प्रकरण में दान का विधान किया है वह दान कैसा होना चाहिए उसका स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है।

दान का विधान

हमारे शास्त्रकारों ने बहुत से दान बतलाए हैं। बड़े-बड़े सम्राट् अपनी प्रजा को नाना प्रकार की मांगलिक वस्तुओं का दान करते हैं। राजा दशरथ जी ने रामजी के जन्म-समय में न जाने कितना दान दिया। ब्राह्मणों के लिए स्वर्ण चाँदी की सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ तथा गाएँ भेंट में दी और याचकों को तो अयाचक ही बना दिया।

विप्रन्ह दान विविध विधि दीन्हें, याचक सकल अयाचककीन्हे

यों तो दान देना उत्तम है ही परन्तु विद्या का दान सर्वोत्तम है। लिखा भी है :—

दानानामुत्तमं दानं विद्यादानं विदुर्बुधाः
आहुः समस्तविद्यानां श्रियमेवाधिदैवतम् ॥

सब दानों में उत्तम दान विद्यादान मनीषी लोगों ने कहा है। समस्त विद्याओं की प्रधान लक्ष्मी ही है। श्रीमद्भगवद्-गीता में दान के तीन प्रकार बताये गए हैं जिनका कि ज्ञान करना आवश्यक है। आजकल दान की प्रथा ऐसी चल गई है कि दाता लोग केवल अन्धविश्वासी बन "दान देना चाहिए" इसी के बल पर देश, काल, पात्र का ध्यान न रखते हुए दान देते हैं। यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति को दान देते हैं कि जो मद्य सेवन करता है, जुआ खेलता है, वेश्यागामी है तथा अन्य प्रकार के नाना कुकर्म करता है तो इसके पाप का भागी दाता ही है। इसीलिए दान भी देश, काल और पात्रानुसार देना चाहिए।

(१) सात्विक दान—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्

(गीता १७-२०)

शास्त्रों में सात्विक दान वही कहा गया है कि जो दान देना ही कर्त्तव्य है ऐसा समझते हैं, परन्तु जो देश, काल के अनुसार अर्थात् जिस स्थान में अथवा जिस काल में अभाव वस्तु की पूर्ति की जाय और उसी वस्तु के द्वारा प्राणियों की सेवा की जाय। ऐसा दान देते हैं वही दान उत्तम और सात्विकी है। दान पात्रानुसार ही देने का विधान है। जो भूखे, अनाथ, दुखी, रोगी, असमर्थ तथा दीन भिक्षुकों को अन्न, वस्त्र, औषधि आदि से सेवा करते हैं और पवित्र शुद्ध आचरण वाले, मांस, मदिरा सेवन न करने वाले, वर्णाश्रम

व्यवस्था के नियमानुसार कार्य करने वाले हो विद्वान् ब्राह्मण जन योग्य तथा सत्पात्र माने गए हैं। ऐसे ही पुरुषों को दान देने से उनका आशीष फलता है। बहुत से लोग प्रत्युपकार की भावना से दान देते हैं यह सात्विक दान नहीं है क्योंकि बदले में कुछ न चाहना और उनकी हार्दिक भाव से दान रूप में सेवा करना सात्विक दान माना गया है। कर्मवीर, बलिष्ठ नवयुवक आजकल बनावटी रूप बना कर दान ले रहे हैं जिसका फलस्वरूप अकर्मण्यता के सिवाय और कुछ नहीं है। मनुष्यों को इस बात का सतत ध्यान रखना चाहिए कि हम कुपात्रों को दान कभी न दें।

(२) राजस दान—

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १७-२१)

जो दान क्लेशपूर्वक तथा इसके बदले में हमें इससे सहायता मिलेगी इस आशा से दिया जाता है तथा फल के उद्देश्य से दिया हुआ दान राजसी है। आजकल ऐसी प्रथा चल पड़ी है कि किसी साधारण से साधारण कार्य में चन्दा इकट्ठा किया जाता है जिसमें कि लोगों को अपनी अरुचि से विवशतावश देना ही पड़ता है ऐसे दान को देने में लोगों के मुख पर प्रसन्नता प्रायः नहीं देखी जाती। बस! ऐसा ही दान तो राजसी है। आज गौशाला के नाम पर, कुँवा खुदाने के नाम पर, अनाथालय के नाम पर बहुत सा द्रव्य माँगा जाता है, परन्तु एक तो उन्हें मिलता ही नहीं है यदि मिलता भी है तो अधिकांश लोग इसी ब्याज से, छल से जनता को

धोखा देते हैं। बहुत से पुरुष अपनी बड़ाई, मान, प्रतिष्ठा कराके दान देते हैं तथा अधिकांश केवल इसी हेतु से कि हमारा रोग अच्छा हो जाय, हमारे ऊपर जो संकट है वह टल जाय तब हम दान करेंगे। ऐसी फलाकांक्षा से दिया हुआ दान राजसी है। जैसा कि आजकल अधिकांश देखा जाता है।

(३) *तामस दान—*

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्चदीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गीता १७-२२)

तथा जो दान बिना सत्कार किये हुए तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देशकाल में कुपात्रों के लिए अर्थात् मद्य, मांसादि अभक्ष्य पदार्थों के खाने वालों के लिए चोरी जारी आदि निकृष्ट कर्म करने वालों में दिया जाता है वही दान तामसी कहा गया है। ऐसे दान देने से दोनों की ही हानि है क्योंकि वह व्यसनी बुरे कार्यों में ही उसका उपयोग करेगा जिससे कि समाज का भी अहित और अपना भी अहित है। चोरी आदि से उन्हें कारागार का दण्ड ही भोगना पड़ेगा तथा कभी २ परिस्थिति वश दान देनेवाला भी पकड़ा जा सकता है। इस लिये आधुनिक मानव-समाज ऐसे नीच कर्म करने वाले पुरुषों को दान कभी न दें। अपने कल्याण के लिए तथा विश्व-शान्ति के निमित्त उन्हें सात्विक दान का ही स्मरण रखना चाहिए। परन्तु यह भी स्मरण रहे कि हम अश्रद्धा से तो कहीं दान नहीं दे रहे हैं अथवा अश्रद्धा से कोई कार्य समाज के प्रति, भगवान के प्रति जो नहीं कर रहे हैं। यदि हम केवल अश्रद्धा से यज्ञादि तप, दान, कर रहे हैं तो वह सब व्यर्थ ही है। इससे न तो हमें इस लोक में शान्ति मिलेगी और न पर-

लोक में भी हम उत्तम सुख के भागी बनेंगे, क्योंकि गीता के १७ वें अध्याय का अन्तिम श्लोक अपने डिंडिम घोष से मानव समाज को आदेश तथा शिक्षा दे रहा है कि :—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

(गीता १७-२८)

बिना श्रद्धा से किया हुवा हवन, दिया हुआ दान तथा अश्रद्धा से तपा हुआ तप अन्य जो कुछ भी कर्म है यदि अश्रद्धा मात्र से ही सम्पन्न है तो वह न तो इस लोक में लाभदायक है और न मरने के पीछे ही कल्याणकारी है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह निष्काम भाव से केवल परमेश्वर की प्रसन्नता के निमित्त तथा शास्त्र की आज्ञा का पालन करता हुआ कर्मों को परम श्रद्धा और उत्साह सहित आचरण करे। इसी में अपना हित है तथा समाज के लिए यही उत्तम आदर्श है।

जब हम अपना प्रत्येक कार्य श्रद्धा तथा विधिविधान से करेंगे तभी हमें वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा। क्योंकि गीता का वचन है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

(गीता ४-३९)

कि जो पुरुष जितेन्द्रिय है, भगवत्प्राप्ति में तत्पर है तथा श्रद्धालु है वही ज्ञानको प्राप्त करता है और ज्ञान को प्राप्त कर शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति रूप परम शान्ति का अधिकारी होता

है। इसीलिये धर्मशास्त्र अनेकों बार विधिपूर्वक कार्य करने का ही आदेश दे रहे हैं। मानव के मनुष्यत्व का यही अलंकार है जिससे कि वह उच्चतम स्थान में जाता है।

उपासना में पाँच भाव

भगवान की सेवा निष्काम भाव से करने पर बहुत लाभ होता है। श्री भगवान की उपासना हम किसी एक भाव को लेकर कर सकते हैं। परन्तु हम जिस भाव से भगवान की उपासना करें उसका हम वैसा ही रूप व्यक्त कर दें। जिस प्रकार एक नट जब तपस्वी का वेष बना कर बैठता है तब वह उसमें तनिक भी कृत्रिमता नहीं आने देता। यद्यपि खेल है फिर भी अपना पार्ट खेलने के लिए सावधानी की आवश्यकता होती ही है। उस समय उसके पास आए हुए नाना प्रकार के पदार्थ उसे तुच्छ लगते हैं। धन को एकदम मिट्टी समझता है। पास में आई हुई कामिनियों को देख कर उसका चित्त विचलित नहीं होता। एकदम समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही उपासक को चाहिए कि वह जिस भावना से उपासना करे उसमें तन्मयता प्राप्त करे। भगवान की उपासना पाँच भावों से करनी चाहिए वे भाव कौन २ हैं। उनका कुछ सविस्तर वर्णन कर देना आवश्यक है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर भाव पाँच प्रकार के हैं। इन भावों में से जिसको जिस भाव की इच्छा हो उसी भाव से श्री भगवान की पूजा करे उस भाव से फिर भगवान के साथ ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़े कि बस "ध्याने ध्यानेन तद्रूपता" के चित्र को उपस्थित कर दे।

(१) *शान्त भाव*—शान्त भाव को लेकर योगी तथा ऋषि-

मुनि भगवान की उपासना करते हैं। वह एकान्त में जाकर भगवदाराधन करते हैं। वहीं अपने चित्त को एकाग्र करके सम्पूर्ण वृत्तियाँ उस सच्चिदानन्द भगवान में जाकर स्थित करते हैं और वहीं से उस अक्षय अनन्त आनन्द को लेते रहते हैं। केवल कायामात्र इस भूमि पर रहता है। सदा निर्विकल्प समाधि में वही एक मात्र चिन्तन होता है। "योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः" इस पातञ्जलि सूत्र का सतत मनन एवं अभ्यास इसी शान्त भाव को लेकर किया जा सकता है। इन ऋषि, मुनि, योगियों की बाह्य क्रियाएँ तो अस्मदादि तुल्य ही होती हैं परन्तु आन्तरिक शान्तिमय साम्राज्य का सुखद दर्शन ये ही करते रहते हैं। उन्हें "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" देख पड़ता है। इन्द्रियों समेत मन का निरोध करके वासना रहित योगी शान्त भाव से एकान्त स्थान में अकेला ही स्थित होकर निरन्तर आत्मा को परमेश्वर में लगाता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ (गीता६-१०)

(२) *दास्य भाव*—सेवक के भाव को ही दास्य भाव कहते हैं। वीर हनुमान का जैसा भाव था। वही दास्य भाव है। इस भाव में श्री भगवान हमारे प्रभु हैं और मैं उनका सेवक हूँ इसलिए मन, वचन, कर्म से अनन्यता को प्राप्त होकर उन प्रभु की सेवा की जाय ऐसा माना जाता है। दास्य भाव में प्रभु के प्रति दास की एकाग्रता रहती है और सेवा का भाव भी होता है। दास प्रभु की आज्ञा का पालन करके और सेवा करके आनन्दित होता है। वह जीवन के एक मात्र होकर मानता है। सम्पूर्ण विश्व एक ओर और दास एक ओर।

परन्तु फिर भी दास की अविचल निष्ठा प्रभु पर होने से
विजय होती है। दास्य भाव रखने से सेवक को क्षण प्रति
क्षण ध्यान प्रभु की ओर ही लगा रहता है। न जाने वह कब
आज्ञा दें इसलिए उनके वचन प्रतिपालन हेतु सन्तरी की
भाँति सजग बना रहता है। वास्तव में इस भाव में आनन्द
भी है। मर्यादा का ध्यान सतत रहता है। भगवान के अनन्य
भक्त श्री हनुमान जी आज इस दास्य भाव का सोत्तम भक्ति
से ही मान्य हुए हैं। हमें इनसे आदर्श ग्रहण करना चाहिए
अपने स्वामी के प्रति कर्तव्य-पालन सीखने का।

एक समय की बात है कि श्री हनुमान जी भगवान की
सेवा में सतत रहते थे। भगवान की कोई सेवा इनसे छूटी न
थी। इनकी सेवा को देख कर राजप्रसाद के अन्य लोग सेवा
की कामना से भगवान के सम्मुख उपस्थित हुए। एक बार
जब श्री हनुमान जी कहीं बाहर गए हुए थे उस समय सुग्रीव,
नल, नील, जामवन्त, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा सीताजी
एवं अन्य परिचारक श्री भगवान से कहने लगे कि हम लोगों
को कोई सेवा आपकी नहीं मिलती। हनुमान जी ही सेवा
किया करते हैं। अतः हम लोग परस्पर में अपनी सेवा का
विभाजन कर लेंगे। भगवान ने कहा जैसी इच्छा हो वैसा
करो। इसपर सबने अपनी-अपनी सेवा ले ली और उसी के
अनुसार नियमतः भगवान के पास उपस्थित रहने लगे। वे
लोग सोचने लगे कि अब तो भगवान की सेवा कोई शेष है
ही नहीं बस हनुमानजी को योंही रखा जाय। फिर क्या था
श्री हनुमानजी के आने पर भगवान ने यथाविधि सेवा का
विभाजन उनसे कह दिया इस पर श्री हनुमान जी ने उस शेष
सेवा को ग्रहण किया जिसका कि विभाजन नहीं हुआ था। वह

सेवा भगवान की जमुहाई लेने पर चुटकी बजाने की थी। अब श्री हनुमान जी २४ घंटे भगवान के पास ही खड़े रहते। अन्य सेवकों को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस प्रकार का यह श्री हनुमानजी का दास्य भाव प्रसिद्ध है। अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान राम हनुमानजी के प्रति उपदेश कर रहे हैं कि जो इस प्रकार की अपनी बुद्धि बना ले वह संसार में सबका प्रिय तथा अनन्त हो सकता है। वह किस प्रकार की बुद्धि है? इसका निर्देश मानस, गायक अपने सुललित शब्दों में कर रहे हैं।

सो अनन्य जाकी अस, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूपराशि भगवन्त॥

बस। मैं सेवक हूँ और यावद् चर, अचर रूप है सब भगवान है केवल इस भाव को अनन्यतापूर्वक ग्रहण करे वह विश्वविजयी तथा सच्चा निष्ठावान है। हनुमान जी के दास्य भाव को देख कर भगवान को भी तो कह देना ही पड़ा कि—

तुम सन तात उऋण मैं नाहीं।
देखेउँ करि विचार मन माहीं॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥

सच्चा सेवक तो वही है कि जो स्वामी के इंगित मात्र से ही उनके आदेश तथा भाव को समझ जाय। जैसा कि हनुमान जी इस भाव में पूरे उतर चुके थे। भगवान भी जानते थे कि

हनुमान के सिवा पूरा कार्य करनेवाला और कौन है। इ
से सीताजी की खोज में गए हुए चतुर्दिक वानरों के अधिप
बना कर श्रीरामजी ने भेजा और चलते समय इनको ही वर
हस्त का आशीष देकर मुद्रिका प्रदान की।

पाछे पवन तनय सिरु नावा।
जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥
परसा सीस सरोरुह पानी।
कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥
बहु प्रकार सीतहिं समुझायेहु।
कहि बल विरह वेगि तुम्ह आयहु॥
हनुमत जन्म सुफल करि माना।
चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥

यह है स्वामी सेवक का भाव। जिन्ह हनुमान ने कभी भ
अपनी सेवा में त्रुटि नहीं आने दी। लंका में जाकर जिन्हों
अपने सम्मान की कुछ भी चिन्ता न कर केवल स्वामी के का
हेतु अपने को मेघनाद द्वारा बँधाया तथा सभा के मध्य अन
राक्षसों की लातें भी खाईं, अपने शरीर में केवल उन्हीं स्वाम
की शक्ति अनुभव करते हुए पूँछ में आग भी लगवाई। सीत
के अन्वेषण हेतु सुरसा के मुख में भी गया। धन्य हो हनुमान
कि जिन्होंने दास्य भाव के आदर्श को अक्षुण्ण रखने के लि
एक सुदृढ़ स्तम्भ को गाड़ दिया। जिसके स्वयं मुख से यह
निकलता है कि—

मोहिं न है बाँधे कछु लाजा।
कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥

स्वामी की आज्ञा में तथा उनकी सेवा में मान, अपमान, बड़ाई का प्रश्न कैसा ? उचित, अनुचित का विचार कैसा ? धन्य तो वही है कि जो हनुमान सरीखे बन इस आदर्श को निभा रहे हैं।

अनुचित उचित विचार तजि, जो पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपुर ऐन॥

मानस गायक ने आगे भी इसकी पुष्टि करते हुए कहा है—

मातु पिता गुरु प्रभु की बानी।
बिनहिं विचार करिय भल जानी॥

माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा सुनते ही उस कार्य में सन्नद्ध हो जाना चाहिए जिसके लिए वह आज्ञा दें। हमारे हिन्दू धर्म की विशेषताओं में से एक विशेषता यह भी है। यहाँ तक भी कहा गया है कि "आज्ञा गुरुणांह्यविचारणीया" शिष्य के लिए गुरु आज्ञा पालन ही उसके निःश्रेयस का एक-मात्र साधन है। भक्तवर श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसी दास्य भाव को अपने प्रभु के सम्मुख रखा है। वे प्रभु से सतत भय हो रखते रहे और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने दिया। श्री महारानी सीताजी को माता के रूप में मानते थे और उनकी स्तुति इसी प्रकार करते थे जैसा कि "विनय-पत्रिका" के इस पद से पता चलता है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरी हु सुधि द्याबही कुछ करुण कथा चलाइ॥

श्री तुलसीदासजी का दास्य भाव तथा श्री सूरदासजी का सख्य भाव प्रत्येक साहित्यिक एवं भावुक भक्त जानते ही हैं।

(३) *सख्य भाव*—अपने प्रभु से मित्र की भाँति व्यवहार करना सख्य भाव कहलाता है जैसा कि श्रीदामा, सुदामा, मधुमंगल तथा सूरदास आदि में देखा गया है। सख्य भाव में समप्राणता अर्थात् प्राणवत् प्रिय होने का भाव है। इस भाव में भी दास्य भाव की भाँति सेवापरायणता रहती है। इसमें सखा सखा एक मन और एक प्राण हो जाते हैं। एक को त्याग कर दूसरा रह नहीं सकता। सखा केवल अपने सखा के साथ खेल कूद कर और हृदय की बात तथा मन की व्यथा कह कर ही तृप्त नहीं होता अपितु सखा के साथ भोजन करना, सेवा करना इत्यादि कार्य करने को सतत प्रस्तुत रहता है। ग्वाल-बालों का भाव भगवान श्री कृष्ण के प्रति सखा के सदृश ही था इसीलिए अवसर आने पर श्रीदामा आदि कृष्ण के ऊपर चढ़ते और खेल खेलने में दाँव न देने पर कृष्ण के कान भी पकड़े गए इतना होते हुए भी कभी भी ऐक्य-भेदन नहीं हुआ। सखाओं के बीच छोटा बड़ापन या जाति-भेद का भाव कुछ भी नहीं रहता। श्रीदामा के प्रेम ने जूँठा फल ही भगवान को खिलाया। यही तो सख्य भाव है। श्री सूरदास जी भी अपने पदों में सख्य भाव का बहुत सुन्दर संग्रह कर सके हैं। भगवान के बालपन का वर्णन, उनकी दधि माखन चोरी तथा रास-विहार का वर्णन सजीव है। स्पष्ट लिख कर ही उन्होंने अपने सख्य भाव का परिचय दिया क्योंकि इस भाव में मर्यादा को कोई स्थान नहीं है तथा भय का भी पूर्णरूपेण अभाव

रहता है। भगवान की सेवा किसी भाव से करे उसे वैसा ही रूप तथा फल प्राप्त होता है।

(४) *वात्सल्य भाव*—पुत्र की भाँति लालन-पालन, दुलराना तथा उनका प्रत्येक प्रकार से ध्यान रखना वात्सल्य भाव है। यह भाव श्री कौशल्यादि रानियों में, यशोदा आदि माताओं में है। पुत्र में माता पिता का मन सदा लगा रहता है। पुत्र के व्यथा होने पर माता पिता के शरीर में ही उस व्यथा का अनुभव होता है ऐसी ममता प्रभु में ही रखना वात्सल्य भाव है। इन माताओं ने प्रभु को हिंडोले में भी झुलाया, खिलाया, हाथ-मुँह धोया तथा इनके ऊपर संटी भी चलाई। दधि की मटकी फोड़ देने पर इन्हें उलूखल में भी बाँधा गया। इस भाव में शान्त भाव की एकाग्रता, दास्य भाव की सेवा-परायणता और सखा भाव की समप्राणता वर्तमान रहती है। भगवान को पिता और माता समझकर उपासना करना वात्सल्य भाव के ही अन्तर्गत माना गया है। श्रीरामकृष्ण परमहंस जी ने भगवान की मातृभाव से उपासना की तथा उनकी उपासना के फलस्वरूप इस युग में उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई।

(५) *मधुर भाव*—व्रज की गोपांगनाओं तथा अत्यन्त प्रेयसी श्री राधिका जी के भाव को ही मधुर भाव कहते हैं। इस भाव में भगवान को अपना पति मानकर उपासना की जाती है। अपने पति के लिए सर्वस्व अर्पण, आत्म-त्याग तथा आत्मनिर्भरता ही इस भाव की विशेषता है। इस भाव में उपरोक्त चारों भावों का समावेश हो जाता है। श्रीमती राधिका और उनकी सखियों ने श्रीकृष्ण को पति भाव से पाने के लिए यमुना तट पर व्रत धारण करके एक मास तक श्री

कात्यायनी देवी की पूजा की थी। भगवान कृष्ण ने उन्हें अन्त में दर्शन दिये और उन्हें प्रेयसी के रूप में माना। वास्तव में गोपियों ने भगवान को सर्वस्व अर्पण कर दिया था। आत्मत्याग की परीक्षा के ही लिये तो नटवर नागर श्री कृष्ण ने जल में नग्न स्नान करती हुई गोपियों के वस्त्रों का अपहरण किया था। अपने पतियों पर इनका प्रेम न था। था तो केवल वंशीबजैया में। जिसकी एक मधुरिमा तान के निकलते ही अर्धरात्रि में भी वे आसक्त एवं भावुका गोपियां यमुना के निर्जन निकूल पर एकत्रित हो जाती थी तथा ज्योत्स्ना-विमण्डित गगन की शोभा से मस्त भगवान के साथ-साथ रास-क्रीड़ा भी करती थीं। स्त्री का भूषण लज्जा कहा गया है। परन्तु भगवान के सम्मुख उन्होंने कभी भी लज्जा नहीं की जो कि सर्वत्र विद्यमान है। भक्त उद्धव इन गोपियों की ही प्रेम-परीक्षा हेतु व्रज में आये तथा उनके मोह को नष्ट करने के लिये अपने उस शुद्ध निर्गुण ज्ञान का प्रकाशन भी किया जिसका कि श्रीमद्भागवत में सविस्तर वर्णन है। परन्तु धन्य हो व्रज को गोपिकाओं ? तुमने जिसको मान लिया उसे फिर छोड़ा नहीं। गोपियों के भाव का यह दीपक-झान झंझा के झकोरों से भी बुझने वाला न था। इसी से किसी भक्त के आग्रह से भगवान स्वयं कह रहे हैं :—

भाव का भूखा हूँ मैं, बस भाव ही सब सार है।
भाव से मुझको भजे तो भव से बेड़ा पार है॥

भाव बिनु सब कुछ भी दे डाले तो मैं लेता नहीं।
भाव से इक पुष्प भी दे तो मुझे स्वीकार है॥

भाव बिन कोई पुकारे मैं कभी सुनता नहीं।
भावपूरित टेक ही करती मुझे लाचार है॥
इस भाँति मुझको बाँध लेते भक्त दृढ़ जंजीर में।
भक्त के दुखहरण ही होता मेरा अवतार है॥

श्री मद्भगवद्गीता में भी भगवान इस प्रकार कह रहे हैं कि—

अनन्यचेताः सततं यो माँ स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः। (गीता ८१४)

जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त से स्थित हुआ निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है उस निरन्तर स्मरण करने वाले योगी के लिए मैं अत्यन्त सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते। (गीता ९-१४)

भगवान का वाक्य है कि जो दृढ़ निश्चय करके निरन्तर मेरे नाम और गुणों का कीर्तन करते हैं तथा मेरी प्रसन्नता ही एकमात्र जिनका उद्देश्य है ऐसे मुझ में ही मिल जाने वाले भक्त अनन्य भक्ति से मुझे भजते हैं। भगवान की सेवा में हम छल, प्रपञ्च, राग द्वेषादिक रख कर कभी उनके रूप का साक्षात्कार नहीं कर सकते। जो निष्कपट भाव से मेरी भक्ति करते हैं। मैं उन्हीं के अन्तःकरण रूप मन्दिर में रहता हूँ। भगवान् कहते हैं।

निर्मल मन जन सो मोहिं पावा ।
मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ।

बस ! इसी प्रकार की शुद्ध भक्ति थी गोपिकाओं की जिन्होंने अपने प्रभु के आगे संसार के वैभव को तथा त्रैलोक्य के अनुपम सुख को भी तुच्छ समझा वे ही गोपियाँ मधुर भाव से भगवान की उपासिका हैं। लिखा भी है कि—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

भावना के अनुसार ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है यदि वह पाषाण तथा काष्ठ मे भी अपने प्रभु को विद्यमान समझता है तो उसे अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये ।
भावो हि विद्यते देवास्तस्माद् भावो हि कारणम् ॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान की उपासना से ही जीवन सार्थक बनावे तथा अपना लक्ष्य एक मात्र वही प्रभु की प्राप्ति रखे। परन्तु भगवान की प्राप्ति सरल नहीं है जो कि एकदम प्राप्त कर लेंगे। उन प्रभु की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण निर्मल बनाना पड़ेगा। तथा हमें अपनी भौतिक वासनाओं की इतिश्री में ही प्राप्ति होगी। भगवान का नाम "भक्तवत्सल" भी है वह भक्तों के कष्ट निवारण के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं और रहे हैं व रहेंगे। इसमें पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। भगवान् तो कहते हैं कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

जो एक बार भी यह कह देता है कि मैं तुम्हारा हूँ। उसको मैं सर्व प्राणियों से अभय बना देता हूँ यह मेरा दृढ़ व्रत है। भला ऐसे भगवान को भूल जाना कितनी मूर्खता है। भगवान के पास कोई कितना भी अपराधी हो वह दीन बन कर चला जाय तो भगवान उसकी पूर्ण रक्षा करते हैं तथा शरीरान्त परम धाम देते हैं।

जो सभीत आवा शरणाई, रखिहहुँ ताहि प्राण की नाईं।
करौं सदा तिनकी रखवारी, जिमि बालकहिं राखु महतारी।

भगवान अपने भक्तों की रक्षा के लिए न जाने क्या-क्या विपत्तियाँ उठाते हैं। वह यह नहीं चाहते हैं कि हमारा भक्त फिर इस संसार के दर्शन करे। सदा उसका जैसे हित होगा करेंगे वे वैसा ही। श्री भगवान् ने नारद का मोह दूर किया, शरणागत विभीषण की रावण द्वारा रक्षा की। भक्त अम्बरीष, सुदामा, अर्जुन, द्रौपदी, अजामिल, गजराजादिकों को विपत्ति पड़ने पर सामयिक साधनों तथा उपदेश एवं कर्त्तव्य-मार्ग दिखाकर रक्षा की। उन भगवान का कितना बड़ा प्रेम है हम सबके ऊपर। जो पग-पग पर हमें कर्तव्य का उपदेश देकर विधि, निषेध का ज्ञान कराता है। उन प्रभु के उपकार का हम ऋण क्या कभी चुका भी सकते हैं। धन्य प्रभो! आपकी लीला और महिमा।

मनुष्य शरीर का महत्व तथा कर्तव्य—

भगवान की लीला बड़ी ही विचित्र है। उनकी इस लीला के दर्शन करने के लिए यह चर्मचक्षु कभी भी उपयुक्त न होंगे, वहाँ तो हमें एक ऐसी शक्ति चाहिये कि जिस शक्ति से उस प्र के भी दर्शन हों तथा उसके परम पवित्र विचित्र-चरित्रों के भ हों। वह शक्ति हमें केवल गुरुचरणाम्बुजों से प्राप्त हो सकती है। उनकी कृपा से दिव्य दृष्टि द्वारा ही अपने अन्त चक्षुओं के खुलने पर यह सब कुछ देख सकते हैं। तो क्य गुरु-कृपा साध्य है? यदि साध्य न होती तो आज हम अप पूर्वज ऋषि, महर्षियों के तथाकथित मार्ग पर क्यों चलते, गुरु कृपा से गोस्वामी तुलसीदास जी आज मानस की इतनी गम्भीर रचना कर सके हैं तथा उपमन्यु, अरुण, वेद आदि गुरु कृपा से ही महर्षि बनने में समर्थ हुए हैं। आज हमें उस गुरु कृपा का सम्पादन करना है और उन्हीं की कृपा का अवगाहन करके दिव्यदृष्टि प्राप्त हो प्रभु के चरित्रों को देखना है।

श्री गुरु पद नख मणि गण ज्योती, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू, बड़े भाग्य उर आवहिं जासू।

श्रीगुरु चरणों के नखों की ज्योति मणि के समान है जिनका स्मरण करने से हृदय में दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है वह ज्योतिर्मय प्रकाश मोहान्धकार को नष्ट कर देता है। इस प्रकार यह दिव्य दृष्टि उसी भाग्यवान् को प्राप्त होगी जो कि गुरु कृपा का विश्वासी है तथा गुरुपाद-पद्मों का अनुरागी है, क्योंकि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी मानस में भगवान के वाक्यों का स्मरण दिला रहे हैं।

गुरु पद कमल जिनहिं रहि नाहीं,
ते नर मोहिं सपनेहुँ न सोहाई।

जिन्हें गुरु के पाद पद्मों में प्रेम नहीं है वे मनुष्य मुझे स्वप्न में भी अच्छे नहीं लगते।

इस मनुष्य शरीर को पाने में गुरुदेव ही सहायक हैं क्योंकि पूर्वजन्म के सद्दपुण्यों के फल स्वरूप यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है। जन्म जन्मातरों के पुण्य, सत्संग के द्वारा ही साध्य हो सकते हैं क्योंकि संग के सहवास से ही पाप पुण्य हुआ करते हैं मानस-गायक ने इस शरीर को बड़े भाग्य', शब्दों से प्रशंसा की है।

बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुर दुरलभ सद ग्रन्थ न गावा।
साधनधाम मोक्ष कर द्वारा, पाइ न जो परलोक सँवारा॥

इस मानव शरीर की प्रशंसा सद्ग्रन्थों ने की है कि यह शरीर देवताओं को भी दुरलभ है। क्योंकि यही देह मोक्ष का द्वार तथा यज्ञानुष्ठानादि साधनों का धाम है। इस शरीर को पाकर जिसने अपना परलोक नहीं सुधारा वे पीछे दुखी होते हैं तथा इस शरीर को व्यर्थ के ही साधनों में केवल आहार, निद्रा भय, मैथुन में बिता दिया इस पर पश्चाताप करते हैं और इसके लिए स्वयं दोषी न बनकर काल, कर्म तथा ईश्वर को दोष लगाते हैं। ऐसे पुरुषों का जन्म ही संसार में व्यर्थ हुआ है।

सो परम दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताई।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाई।

इसलिए इस सौभाग्य शाली मानव शरीर को पाकर मनुष्य भक्ति को प्राप्त करने के लिए तथा भक्ति से भगवान के दर्शन

होने के लिए गुरु की शरण में जावे तथा उनकी कृपा को प्राप्त करे क्योंकि लिखा है :—

तद् विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ (मु०

पुरुष उस आत्मतत्व को जानने के लिए समित्पाणि हो श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जावे। उनके पास रह कर सेवा शुश्रूषा से गुरु की कृपा को प्राप्त करे तथा फिर इस मनुष्य जन्म को सार्थक बनाने के लिए परमार्थ का चिन्तन करे।

श्रीराम चरित मानस में भी आता है कि—

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई जो विरञ्चिशंकर सम होई।

गुरु के बिना यदि ब्रह्मा भी चाहें कि हम इस संसार सागर को पार कर लें यह असम्भव है क्योंकि जब तक हमें सत्यासत्य का ज्ञान नहीं है तब वह संसार को असार कैसे सिद्ध कर सकते हैं इस ज्ञान विवर्धन हेतु ही गुरु की आवश्यकता होती है :—

गुरु बिनु होइ कि ज्ञान, ज्ञान विराग बिनु।

और वह ज्ञान बिना वैराग्य के सम्पन्न नहीं हो सकता। गुरु ही इस मनुष्य शरीर को सार्थक बनाने में कर्णधार है।

कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नाव, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।
नर तनु भव वारिधि कहँ बेरो, सन्मुखमरुत अनुग्रह मेरो।

यह मनुष्य शरीर संसार सागर का बेड़ा है और थोड़े को पार लगाने के लिए ईश्वर का अनुग्रहरूप पवन है। और इस मनुष्य शरीर रूपी दृढ़नाव का कर्णधार सद्गुरु है जिनके उपदेश

के द्वारा इस दुख रूपी भवसागर से सहल में ही पार हो जाती है।

जो न तरै भव सागरहिं नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्द मति आतम हनि गति जाइ॥

जो ऐसे सौभाग्यशाली मानवशरीर को पाकर भवसागर को पार हो पाते। वह ईश्वरके अनुग्रह के निन्दक, मन्द बुद्धि तथा आत्मघाती की गति को प्राप्त होते हैं। इसलिए मानव-शरीर को पाकर धर्मोचित कार्य करने चाहिए। इस शरीर से जहाँ तक हो सके वहाँ तक दूसरों की सेवा, उपकार आदि करनी चाहिये क्योंकि यदि मनुष्य शरीर पा करके भी हम अच्छे कार्य न कर सके; इसकी किसी प्रकार का सार्थकता न सिद्ध कर सके तो केवल इस शरीर के आवागमन के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। श्री शंकराचार्य जी कहते हैं:—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं।
यः संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे।

बार बार पैदा होना, मरना और माता के पेट में ही रहने की आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए भगवद्भजन करना चाहिये।

परहित सरिस धरम नहिं भाई,
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।
नर शरीर धरि जे पर पीरा,
करहिं ते सहहि महाभव भीरा॥

दूसरों का हित करने के समान कोई धर्म और दुख देने के बराबर कोई पाप नहीं। इसलिए जो मनुष्य शरीर को पाकर दूसरों को दुख देते हैं वे बारम्बार नीच योनियों में जन्म लेते हैं। जो इस शरीर से केवल दूसरों का अहित ही सोचते हैं उनकी भी अधोगत होती है।

करहिं मोह बस नर अघ नाना।
स्वारथ रत परलोक नशाना॥
अस विचार जे परम सयाने।
भजहिं मोहिं संसृत दुख जाने॥

जो पुरुष अज्ञानवश अनेक पाप के ही करने में रत रहते हैं वह स्वार्थ में फँस कर दूसरों का अनिष्ट सोचते हुए कभी भी पारलौलिक सुखों को नहीं पाते। इसलिए जो चतुर ज्ञानी महात्मा जन संसार की विषय-वासनाओं से निर्लिप्त रहकर काम, क्रोध, लोभ, मोहादि बड़े रिपुओं से बचते रहते हैं वही हमारा भजन करते है और श्रेष्ठता को प्राप्त होकर मेरे परमधाम का आश्रय ग्रहण करते हैं। इसलिए गीता के कहे हुए निर्देश के अनुसार प्रत्येक मानव को आन्तरिक शत्रुओं का हनन करना चाहिए। इन शत्रुओं का प्रधान नायक काम ही है जिसके लिए कहा है—

जहिशत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्।

कि अपनी शक्ति का संचय करके कामरूप असह्य शत्रु का वध करना चाहिए। काम की शान्ति के लिए यदि हम उसका इष्ट पदार्थ सम्मुख रख दें तो वह काम वासना अत्यधिक प्रबल ही होती जायेगी।

न जातु कामः कामनामुपभोगे न शाम्यति ।
हविषः कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (पंचदशी)

कामनाओं का उपभोग करने से काम की शान्ति कभी नही होती । जैसे अग्नि में हवि डालने से वह अग्नि प्रज्वलित ही होती है । इस लिए कामनाओं के संकल्प को एक दम बन्द करना चाहिए इसी में ही कल्याण है ।

काम एव क्रोध एव रजोगुण समुद्भव : ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (गीता ३-३७)

मनुष्य शरीर के भयकर शत्रु हृदय में ही पारस्परिक कलह से शान्ति को नहीं प्राप्त होते। मनुष्य अपने इन प्रबल शत्रुओं की सतत उपेक्षा करता है तथा बाह्य शत्रुओं से अपने वैमनस्य को निभाता है। मनुष्य के भीषण शत्रु काम क्रोधादिक हैं। मानस में श्री गोस्वामी जी ने इन शत्रुओं के प्रभाव को बड़े सुन्दर शब्दों में वास्तविकता के साथ बताया।

"मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही, जो जग कान नचावन जेही।
तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा, केहिके हृदय क्रोध नहीं दाहा" ।

संसार में मोह ने किस मनुष्य को अन्धा नहीं बनाया। इस क्षणभंगुर असार जगत में मोह किसका करना। यावत्प्राणी बीच के ही सम्बन्धी हैं। शरीरान्त में कोई साथ नहीं जाता परन्तु मानव अज्ञान से पुत्र, पौत्र, माता, पिता, धन, परिवार के व्यामोह में ऐसा जकड़ा है कि उसे छोड़ना नहीं चाहता उनसे मेरा क्या सम्बन्ध लगा ही रखा है। इससे हमें केवल इस विषय में यह संदेह स्मरण रखना चाहिए कि—

बीचहिं मिलहिं बीच छुटि जैहैं, अन्त समय कोउ काम न ऐहैं

श्री गीता में भी लिखा है कि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २–२८)

सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहिले बिना शरीर वाले और मरने के बाद भी बिना शरीर वाले हैं। केवल बीच में ही शरीर वाले प्रतीत होते हैं तो फिर इस विषय में चिन्ता की बात क्या है। हमें जब मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है तब उसे साफल्य बनावें पशु वृति अपनाने में कोई सुख शान्ति नहीं मिलती। तृष्णा शत्रु को अवश्य दबाना चाहिए। क्योंकि प्रायः देखा गया है कि मनुष्यों के शरीर में कोई शक्ति कार्य सम्पादन के लिए नहीं रही है, वृद्ध भी हो चले हैं, मरणासन्न बैठे हैं परन्तु उनका तृष्णा रूप शत्रु अभी तरुण बना बैठा है।

"तृष्णैका तरुणायते।"

सम्पूर्ण अवस्था अपनी मनुष्य ने विषय भोगों में डाली परन्तु इससे क्या भोगों की निवृत्ति हो गई। अरे! नहीं हमारी ही निवृत्ति हो गई। हम तृष्णा की इच्छा से अपना पूर्ण परिवार जुटाते रहे परन्तु अन्त में कुछ भी साथ नहीं चलता। जैसा कि निम्नश्लोक से प्रकट है।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः

कालो न यातो वयमेव याता
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ॥
ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुण आगार।
केहि के लोभ विडम्बना, कीन्ह न एहि संसार ॥

इस संसार में ऐसे ज्ञानी, तपस्वी, शूर, कवि और पण्डित कोई ही विरले हैं जिन्हें लोभ न सताया हो। निर्धन की तो कोई बात ही नहीं। पूँजीपति भी विना लोभ किये नहीं रहते। हमें तो अपने मनुष्य शरीर को देखना है। एक भी शत्रु के रहने से यह शरीर रूप किला ढहा जायगा इस लिए शत्रुओं से किले का संरक्षण भरपूर करना चाहिए। जब किले में आन्तरिक शत्रु ही विप्लव का बीज बोयेंगे तब हमें उन्हीं को प्रथम समूल नष्ट कर देना पड़ेगा। नहीं तो किले की स्थिति शीघ्र ही मिटना सम्भव है। "प्रभुता पाहि काहि मद नाहीं" ठीक ही लिखा गया है। उपरोक्त शत्रुओं के विद्यमान रहते रहते उनके और भी सहयोगी आ गए हैं। जिनसे बच जाना ही वास्तविकता का परिचायक है।

"श्रीमद् वक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगनयनी के नयन सर, को अस लागु न जाहिं ॥"

लक्ष्मी को पाकर कुटिल कौन नहीं बने। प्रभुता के नशे में वधिर कौन नहीं हुए तथा स्त्री के नेत्र रूप चञ्चल तीर किसे नहीं मार सके। कहने का यह है कि मनुष्य शरीर में यह सब वस्तुयें प्राप्त होती हैं परन्तु सार्थक शरीर तो वही है कि जिसने प्रभुता श्री आदिक का दुरुपयोग न किया हो तथा भगवत्कृपा से प्राप्त-यह सब भगवान की ही सेवा में है इस बुद्धि से जिसने उपयोग करके भगवद् गुणानुवाद में जीवन बीताया हो

"गुण कृत सन्निपात नहिं केही, को न मान मद तजे निबेही।
यौवन ज्वर न काहि बलकावा, ममता केहिकर यश न नशावा।"

गोस्वामी जी ने मनुष्य शरीर को सार्थक बनाने के लिए ही शरीर जन्य दोषों का वर्णन किया है जिसके परिहार से भगवद्-कृपा द्वारा मनुष्य मानवता का साथी बन सकता है। सारी गुणों को पाकर कोई भी मनुष्य संसार में कम ही मिलेगें। मनुष्य प्रयत्न से कञ्चन और कामिनी का तो किसी प्रकार से त्याग कर सकता है। पर आन्तरिक जगत में स्थिति मान, बड़ाई, ईर्षा का का त्याग करना दुरुह है।

'कञ्चन तजना सहज है सहज तिया को नेह।
मान, बड़ाई, ईर्षा, तुलसी दुर्लभ एह॥"

मानवता के पुजारी को तो अवश्य ही मानादिक का त्याग करना पड़ेगा क्यों इन दोषों से सम्पन्न भक्त की स्थिति कभी नहीं होती: उनका तो लक्षण है कि—

"निज गुण सुनत सदा सकुचाहीं, पर गुन सुनत अधिहर्षाहीं"

ममता युक्त पुरुष के यश का नाश अवश्यम्भावी है। ममता त्याग ही वास्तविक शान्ति का अनूठा साधन है।

"मत्सर काहि कलंक न लावा, काहि न शोक समीर डुलावा।
चिन्ता सापिनि काहि नखाया। को जग जाहिनव्यापीमाया॥"

किसी के उत्कर्ष को न सहन करने वाले व्यक्ति ही मत्सरयुक्त कहलाते हैं। शोक रूपी तीक्ष्ण पवन अधैर्यशाली पुरुषों का सब कुछ नष्ट कर देता है। चिन्ता सर्पिणि ने किसे नहीं डसा तथा

जगत में ऐसा कौन है जिसे माया न व्याप्त हुई हो। यह मेरा, यह तेरा के भेद को ही तो माया कहते हैं। अपनी चक्षु इन्द्रिय से यावत्पदार्थों को देखते हैं वे माया नहीं तो क्या हैं। बस, इसी बुद्धि ने तो सम्पूर्ण सांसारिक मनुष्यों को अपने वश में कर रखा है तोते और बन्दर की भाँति।

"सो माया बश भयउ गोसाईं, बंधेउ कीर मरकट की नाईं।"

मनुष्य विचार शील प्राणी है यदि वह इन सब दोषों पर विचार करे तो उसे कभी भी अपने बन्धन में नहीं बाँध सकते। मनुष्य अज्ञान वश होकर ही इन सब दोषों में लिप्त रहता है। वैसे तो इस मानव का स्वरूप कुछ दूसरा है परन्तु जिस प्रकार भूमि पर गिरा हुआ पानी एकदम मटीला हो जाता है वैसे ही इस जीव की स्थिति है।

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखरासी।
भूमि परत भा डाबर पानी, जिमि जीवहिं माया लपिटानी॥

मनुष्य अपने स्वरूप का कभी चिन्तन ही नहीं करता। वह तो समझता है कि मैं साढ़े तीन हाथ का, गौर-वर्ण वाला ब्राह्मण हूँ। बस, उसकी स्थिति केवल ब्राह्मण, गौर वर्ण तथा साढ़ी तीन हाथ तक है। अरे अज्ञानी मानव! अपने को तू पहिचान और देख अपने उस सच्चिदानन्द रूप को। कि जिसमें शोक, मोह, चिन्ता आदिक कुछ भी नहीं हैं और वह है सार्वभौम व्यापक, अखण्ड, अच्छेद्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला।

"व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी, सत चेतन घन आनंद राशी।
परवश जीव स्व वश भगवन्ता, रूप अनेक एक श्रीकन्ता॥

उपजहिं जासु अंश ते नाना, विष्णु, विरंचि, संभु भगवाना।

फिर ऐसे प्रभु को अपने इस अन्तः करण में क्यों न देखे। इस क्षण भंगुर, अनित्य शरीर के लिए चिन्ता और मोह कैसा चिन्ता से तो मुक्त दो ही हैं :—

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ, परमानन्दाप्लुतौ ।
या विमुक्तो जडो बालो यो गुणेभ्यः परंगतः ॥

भगवान की प्रबल माया ने नारद को मोह लिया। इसी माया ने खगपति को बहुत सताया तथा यही माया आज सम्पूर्ण मानव समुदाय को अपने में वशीकरण मन्त्र सदृश बद्ध किए हुए है। विचारशील, संसार की असारता का अनुभव करने वाले जीवन मुक्त महात्मा ही केवल भगवत्कृपा द्वारा वंचित हैं। भगवान गीता में कहते हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्ति ते

(गीता ७-१४)

कि यह अलौकिक अद्भुत त्रिगुणात्मिका (सत्व, रज, तम) माया बड़ी दुस्तर है। संसार सात्विक, राजस और तामस इन तीनों भावों से, राग द्वेषादि विकारों से युक्त सम्पूर्ण विषयों में मोहित हो रहा है। इसी माया को वही पुरुष उल्लंघन कर सकते हैं जो कि निरन्तर मेरा स्मरण, भजन करते रहते हैं। संसार सागर से तरने का यही एक सरल साधन है। परन्तु इस अनित्य संसार से छुटकारा पाने के लिए मेरी प्राप्ति के हेतु सहस्रों में से कोई एक प्रयत्न करता है और मेरे उस प्रकाश रूप परम धाम का अधिकारी बनता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः॥
(गीता ७-३)

यही भगवान की अघटित-घटना-पटीयसी माया है। जिसमें विवेकी तथा प्रयत्नशील नहीं फँसते। भगवान की प्राप्ति करना साधारण नहीं है इसमें तो जन्म-जन्मान्तर के पुण्य तथा तपस्या भी वासना के क्षीण न होने पर काम नहीं देती। मनोरथ के वश में होकर ही मनुष्य अविवेक से पुण्य कर्म करने को तैयार होता है। मनोरथों की निवृत्ति ही भगवान के साक्षात्कार का हेतु है क्योंकि इतर स्थानों की कामना से हमें परम पुरुष की प्राप्ति नहीं होगी। वास्तव में सब संकल्पों का त्यागी ही सन्यासी है।

"सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढस्तदोच्यते"।

सम्पूर्ण मनोरथ रूपी घुन शरीर रूपी इस काष्ठ को भीतर ही भीतर नष्ट करते रहते हैं।

"कीट मनोरथ दारु शरीरा।
जेहि न लाग घुन को अस धीरा।
सुत वित लोक ईषना तीनी।
केहि की मति इन कृत न मलीनी"।

मनुष्य को इस संसार में आकर तीन इच्छायें घेर लेती हैं। एक पुत्र की इच्छा, दूसरी धन की तीसरी लोक की इच्छा। वास्तव में इन्हीं तीनों इच्छाओं में संसार के प्राणी अहर्निशि लगे रहते हैं फलतः उनकी बुद्धि मलिन बन जाती है और इसी

में प्रयत्न करते-करते जीवन समाप्त कर देते हैं। हम लोग जब माता के पेट में रहते हैं तो वहाँ की बाधा से मुक्ति पाने के लिये भगवान् से नानाविधि विनीत होकर प्रार्थना करते हैं परन्तु ज्यों ही मृत्युलोक में आए त्यों ही माया के बन्धन में माता, पिता भाई, मित्र के व्यामोह में पड़कर उस दुखहरण भगवान को भूल जाते हैं। वाह रे मानव ! तूने कहा तो बहुत कुछ, परन्तु किया मनमाना ही।

"भजन कह्यो तासों भज्यो भज्यो न एकहु बार"

यही मानव की सत्प्रतिज्ञा उसे माया के आवरण में पड़कर भूल जाता है। पुनः इस जगत में इन तीनों इच्छाओं के लिये प्रयास करता है तथा इन्हीं तीनों की पूर्ति में उसे सत् असत् का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। किसी प्रकार से तीनों की पूर्ति जब हो जाती है तो वह मारे अभिमान के इतर संसार को तुच्छ समझता है। यही अभिमान उसे नीचे गिराता है।

"संसृति मूल शूलप्रद नाना,
सकल शोक दायक अभिमाना"।

उस अभिमान से नाना प्रकार के शोक, दुख उत्पन्न होते हैं।

"मोहसकल व्याधित कर मूला,
तेहि ते पुनि उपजहिं बहु सूला।
काम बात कफ लोभ अपारा,
क्रोध पित्त नित छाती जारा।"

मोह और अभिमान मानव को शान्ति प्रदान नहीं करते अपितु रोग के आगार बन कर अन्य बहुत सी विपत्तियाँ उत्पन्न

करते हैं। मनुष्य शरीर में काम रूपी बात, कफ रूपी लोभ और क्रोध रूपी पित्त सतत ही अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए तुमुल युद्ध करते हैं। शनैः शनैः इन तीनों के पारस्परिक प्रेम हो जाने से एक चौथी सन्निपात नामक शक्ति आकर मानव को एकदम अचेत बना देती है। सन्निपात से मनुष्य मृतक हो जाता है। संभव है कि वह किसी प्रकार अच्छा हो जाय तो फिर वह अपनी मायिक सम्पत्ति पर दौड़ता है और उसे छोड़ना नहीं चाहता। श्री गोस्वामी जी ने इस ममता को दाद शब्द से सम्बोधित किया है।

"ममता दद्रु कंडु इरखाई, कुष्ट दुष्टता मन कुटिलाई।
अहंकार अति दुखद डमरुआ, दंभ कपट मद मान नहरुआ।"

ईर्षा खुजली, दुष्टता और मन को कुटिलता कुष्ट। अत्यंत दुखदाई अहंकार जलन्धर रोग तथा दंभादि नहरुआ रोग बनकर सम्पूर्ण मानव को रोगी बनाए हुए हैं।

उपरोक्त को तीनों सुत, वित, लोकैषणा तोदण तिजारी का रूप धारण करके दुख देती हैं। मनुष्य तो अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए, दूसरों का उपकार तथा भगवान का भजन करने के लिए इस लोक में आया था परन्तु वह तो स्वयं रोगी बन कर मरणासन्न अवस्था को प्राप्त हो गया। संसार के विषयों में मनुष्यों की प्रवृत्ति दौड़ते रहने से रोगी बन जाना स्वाभाविक ही है। इन मानसिक रोगों से क्षत-विक्षत मानव भला कब अपने शरीर रूपी दुर्ग की रक्षा कर सकेगा। मानव जीवन को यदि इन मानसिक रोगों से वञ्चित रखना है तो वह संयम से चले तथा विषय कुपथ्य का सेवन न करे। सद्गुरु वैद्य को निर्दिष्ट की हुई वेद-वाक्य-औषधि का सेवन करने से रोग का

समूल विनाश हो जाता है। इसलिए सद्गुरु के ही उपदेशों के श्रवण से तदनुकूल वेद विहित आचरण करने से अपना अमूल्य मानव जीवन सार्थक बनाना चाहिए। संसार में गुरु तो बहुत हैं, परन्तु परमात्मा प्राप्ति कराने वाले सद्गुरु बहुत कम हैं।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
ज्ञान-विज्ञानदाता च सद्गुरुः खलु दुर्लभः॥

इसीलिए गोस्वामीजी ने ऐसे गुरुओं की निन्दा भी की है जो मनुष्य के जीवन को सार्थक बना देने का भार लेकर भी केवल स्वार्थपरायणता के पुजारी बनते हैं।

हरै शिष्यधन, शोक न हरई, सो गुरु घोर नरक में परई।

इन गुरुओं का भो जीवन में, कोई कल्याण नहीं होता। गुरु तो वही है जो कि भगवान से मिला दे। इसलिए भगवान से अधिक गुरु को माना गया है।

"तुमते अधिक गुरुहि जियजानी"

किसी कविने गुरुदेव की प्रशंसा में लिखा है कि—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी वा गुरू की जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

इसी से धर्माचार्यों ने गुरु को ही परब्रह्म, सच्चिदानन्द रूप साक्षात् विष्णु, ब्रह्मा तथा महेश माना है।

श्री गोस्वामी जी भी गुरुदेव की महत्ता वर्णन बड़े सोत्साह एवं यथार्थता द्वारा कह रहे हैं कि—

जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी, ते लोकहु वेदहु बड़ भागी।
जे गुरु चरण-रेणु शिर धरहीं, ते जनु सकल विभव बस करहीं।

यही आदर्श है हिन्दू संस्कृति का कि जिस गुरुकृपा से मानव सम्पूर्ण वैभव को प्राप्त कर लेता है। शिष्य का पूर्ण उत्तरदायित्व गुरु पर रहता है। सद्गुरु कभी भी शिष्य को निकृष्ट मार्ग में नहीं जाने देगा। सद्गुरु की पहिचान ही यही है कि उसके पास पहुँचने से वास्तविक शान्ति प्राप्त होती है तथा संपूर्ण संशकें की निवृत्ति हो जाती है।

'सद्गुरु मिले ते जाहिं जिमि संशय भ्रम समुदाय॥

बस! बस ऐसे ही सद्गुरु का कर्णधार बन जाने पर जीवन नौका संसार सागर से बड़ी ही सरलता से पार हो जा सकती है। श्री मद्भागवत में लिखा है कि:—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्, पुमान् भवाब्धिन्न तरेत् स आत्महा।

जो इस अप्राप्य देवादिकों के सौभाग्यतम मनुष्य-शरीर को सुलभता से प्राप्त कर अपनी जीवन नौका को सद्गुरु रूपी कर्णधार रहने पर तथा सुखद अनुकूल वायु के प्रेरित होने पर भी संसार सागर से नहीं पार कर पाता है वह वास्तव में आत्मा का हनन करने वाला है। इसलिये इस मानव शरीर को पाकर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। इसी शरीर की याचना चराचर मात्र किया करता है फिर भी सहज अज्ञानी मनुष्य अपना कर्त्तव्य भूल बैठे हैं।

"नर समान नहिं कवनिउ देही, जीव चराचर जाचत जेही।
हानि कि जग यहि सम कछु भाई, भजिय न राम हिंनरतनुपाई॥"

जो ईश्वर का भजन नहीं करते उनकी सबसे बड़ी हानि यही है तथा उनका मनुष्य शरीर पाना व्यर्थ है। वह तो जीवित

रहते हुए भी भगवद्भक्ति का समादर न करने पर मृतक ही हैं।

"जिन्ह हरिभक्ति हृदय नहिं आनी,
जीवन सव समान ते प्राणी"

मनुष्य शरीर पाकर भी विषय-वासना में जो पड़े रहते हैं वे अमृत देकर विष ग्रहण करते हैं।

"देह धरे कर यह फल भाई, भजिय राम सब काम बिहाई।
नरक स्वर्ग अपवर्ग नसेनी, ज्ञान विराग भक्ति सुख देनी।
सोइ पावन सोइ सुभग शरीरा, जो तनु पाइ भजइ रघुवीरा।
नरतनु पाइ विषय मन देहीं, पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।
यहि तनु कर फल विषय न भाई, स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई।
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर, होहि विषय रति मन्द मन्दतर
काँचकिराच बदल सठ लेहीं, करते डारि परसमणि देहीं ॥"

वास्तव में यही मनुष्य-शरीर नरक, स्वर्ग और मुक्ति की सीढ़ी तथा ज्ञान, वैराग्य, भक्ति एवं सुख देने वाला है। कर्मों के अनुसार पाप-पुण्य भोगने ही पड़ेंगे। इसलिए इस सुन्दर मनुज शरीर को पाकर ऐसा अधम कार्य न करो कि जिससे शूकर, कूकर की योनियों को प्राप्त होकर नारकीय यातना को सहन करना पड़े। यह सुन्दर सा शरीर भगवद्भजन के लिए ही प्राप्त हुआ है। विषयभोगों के लिये नहीं है, क्योंकि विषयों का आतिशय ही नरक का द्वार है। इस मानव शरीर रूपी पारस को लेकर हम यों ही न गँवा दें। इसका उपयोग करना सीखें। भगवान वेदव्यास जी ने अमूल्य बात इस मानव शरीर को अर्पित की है जिसका ध्यान सतत रखना चाहिए।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

मानव-शरीर में बहुत निधियाँ भरी हुई हैं परन्तु हम उनका पता तभी लगा सकते हैं जब कि हम अपने सरल अन्तःकरण में विषयों को पास न आने दें तथा दूसरे के अहित का सर्वथा त्याग कर दें। यदि शुभ संदेश सुनकर जीवन को सार्थक बनाना है तो सुनो अपनी मुक्ति का तुमुल शंखनाद।

"मुक्तिमिच्छसि चेत्तात ! विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जव-दया-शौचं, सत्यं पीयूषवत् भज ॥"

इस मनुष्य शरीर को पाकर यदि संसार के आवागमन से छूटकर मुक्त होना चाहते हो तो ऐ असार संसार के अनुयायियों ! शब्द आदि विषयों को विष की भाँति एक दम त्याग दो तथा क्षमा, दया सरलता तथा सत्य रूपी अमृत का अत्यन्त प्रेम तथा श्रद्धापूर्वक पान करो। मानव जीवन को अमर बना देने वाली यही सञ्जीवनी बूटी है।

धार्मिक शिक्षा

शास्त्रों में धर्म की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। धर्म का अर्थ साधारण यही किया जा सकता है।

धारणादूधर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद् धारण सयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

मनु महराज ने धर्म का स्वरूप यों लिखा है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥
(मनुस्मृतिः)

अर्थात् जिसे विद्वान् एवं सदाचारसम्पन्न पुरुष रागद्वेष-रहित होकर श्रद्धापूर्वक हार्दिक भावसे नित्य आचरण में लावें वही धर्म है। जिन शुभ आचरणों एवं कृत्यों को मनुष्य धारण करें तथा जिससे लौकिक एवं पारमार्थिक सिद्धि प्राप्त हो उसे धर्म कहते हैं। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः" शास्त्रों से प्रतिपाद्य प्रयोजन की सिद्धि करने वाला अर्थवान् धर्म कहा गया है। इसी धर्म के बहुत से लक्षण हैं। मनुस्मृति में धर्म के लक्षण यों दिये गए हैं।

> धृतिः क्षमो दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्॥

मनुष्य के साथ शरीरान्त में जाने वाला केवल यही धर्म है। धर्म के आचरण से पाप का सर्वथा नाश हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन अपने धर्म का पालन कैसे करना चाहिए, यह यहाँ पर बता दिया जाता है।

(१) ब्राह्म मुहूर्त्त में उठकर आत्मचिन्तन करना चाहिए। सूर्य निकलने से दो घड़ी पहिले तक का नाम ब्राह्म मुहूर्त्त है॥

(२) प्रातः उठते ही भगवान के पवित्र नाम का स्मरण करना चाहिए, मधुर स्वर से स्तोत्र पाठ करना चाहिए।

(३) इसके बाद बिस्तरे से उठकर शौच जाय, शौच के समय नाक एवं मुख को वस्त्र से अवश्य ढाप लेना चाहिए। यज्ञोपवीत को दाहिने कान पर चढ़ावे। शौच के बाद हाथ पैर मिट्टी से एवं पवित्र जल से शुद्ध करना चाहिए। उनको दुर्गन्धि चिकनाहट न रहने पावे इस प्रकार मल मल कर उनको धोना चाहिए। शुद्ध जल से १२ कुल्ले करें।

(४) पश्चात् यथाशक्ति व्यायाम करना चाहिए। हमारे शास्त्रकारों ने व्यायाम के बड़े गुण बताये हैं।

लाघवं कर्म सामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुप जायते ॥

व्यायाम से शरीर स्फूर्ति वाला, संगठित, सुडौल बनता है। खून साफ होता है, बल बढ़ता है, वीरता आती है। जठराग्नि दीप्त होती है। व्यायाम पसीने के द्वारा शारीरिक सारी बुराइयों को बाहर निकाल देता है। जो व्यायाम नहीं करते हैं, वे दुर्बल, पतले पीले एवं बादी से फूल जाते हैं।

(५) पश्चात् दातून करे। दातून १२ अंगुल लम्बी एवं कनिष्ठिका के समान मोटी होनी चाहिए। पश्चात् शीतल जल से स्नान करे। स्नान का समय सूर्योदय से प्रथम माना गया है

(६) पश्चात् भस्म चन्दनादि धारण कर द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को संध्या करनी चाहिए। वेद भगवान की आज्ञा है—"अहरहः संध्यामुपासीत"। उपनयन होने पर प्रत्येक द्विज प्रतिदिन प्रातः सायं सध्या करे। सन्ध्या नहीं करने वाला द्विज शूद्र माना जाता है, उसका किसी भी धार्मिक कार्य करने में अधिकार नहीं रहता, सन्ध्या नहीं करने वाले द्विज को धार्मिक राजा एवं धार्मिक जाति-समाज की ओर से दण्ड मिलना चाहिए। भगवान राम एवं अन्य महापुरुष भी प्रतिदिन सन्ध्या करते थे। इसलिए राम, कृष्ण के मानने वाले द्विजाति मात्र का कर्त्तव्य है कि वे शिखा-यज्ञोपवीत धारण करें तथा सन्ध्या अवश्य करें।

(७) गीता—उपनिषद्-इष्टदेवस्तोत्र आदि का पाठ करना चाहिए। 'अर्थं' पाठं 'कुर्यात्' इस नियम को भूले नहीं। "स्वाध्यायान्मा प्रमदः" यह वेदों का उपदेश है। इष्टदेव का पूजन करे।

पंचदेव-विष्णु, शंकर, सूर्य, शक्ति को नमस्कार करे। जप, ध्यान आदि साधनों का भी यथाशक्ति अनुष्ठान करे।

(८) पहिनने के वस्त्र सदा स्वच्छ होने चाहिए। नाखून कटा देने चाहिए। अपने-अपने मकान की स्वच्छता का ध्यान रखना चाहिए।

(९) नम्र एवं विनयशील बनो। अपने गुरुजनों को माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, साधु, ब्राह्मण आदि को प्रणाम करना चाहिए। क्योंकि अभिवादन करने वालों को चार वस्तुएँ सदा मिलती हैं।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चात्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।मनुस्मृतिः

(१०) सात्विक—पुष्टिकारक एवं सुपाच्य भोजन करना चाहिए, किसी का जूठा न खाना चाहिए, किसी को खिलाकर खाना चाहिए, अकेला खाने वाला पापी होता है। अच्छी तरह हाथ पाँव धोकर हो सके तो स्नान कर पवित्र जगह पर बैठकर भोजन करना चाहिए। भोजन के समय बातें नहीं करना चाहिए। अभक्ष्य मांसादि एवं बासी अन्न नहीं खाना चाहिए।

(११) पंचमहायज्ञ (ऋषि, देव, पितृ, मनुष्य और भूत-यज्ञ) करना चाहिए। शास्त्रपठन विचार ऋषियज्ञ है, होम करना देवयज्ञ है, श्राद्ध-तर्पण, माता, पिता की सेवा, उनकी आज्ञा पालन करना पितृयज्ञ है, अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है, पशु-पक्षी आदि को तृप्त करना भूतयज्ञ है।

(१२) नीतिपूर्वक धर्म से जीविका सम्पादन करे। अति-तृष्णा का त्याग कर सन्तोष धारण करे।

(१३) सदा परोपकार करना चाहिए। परोपकार का पुण्य अनेक यज्ञों से भी बढ़ कर है। जिस मनुष्य ने कभी परोपकार नहीं किया; उससे तो घास अच्छी है जो अपने आपको देकर पशुओं का पेट पालती है। जीना उसीका सफल है जो परोपकार के लिए जीता है। धन और जीवन किसीका सदा नहीं रहता, इसलिए नाश होने के पहिले ही इन्हें परोपकार में लगा देना चाहिए।

(१४) सत्य बोलो, प्रिय बोलो, हितकारी वचन बोलो, व्यर्थ मत बोलो, जो बुद्धिमान सत्य बोलता है, प्रिय-हित-मित वचन बोलता है उसका यश सर्वत्र जाने पर होता है।

(१५) सत्संग करो, सत्पुरुषों का उपदेश सुनो। भले पुरुषों का संग लाभकारी है। सत्संग बुद्धि की जड़ता को दूर करता है, सत्य-प्रिय बोलना सिखाता है, पापों से बचाता है, मान-प्रतिष्ठा बढ़ाता है, मन प्रसन्न करता है। सत्संग दुष्टों को भी सज्जन बना देता है।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिम्।
सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्॥ (नीतिशतकम्)

इसलिये हम सज्जनों का संग करें, और दुर्जनों से सदा दूर ही रहें। कहा है :—

हीयते हि मतिस्तात! हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम्॥

दुर्जनः परिहर्त्तव्यः विद्ययालङ्कृतोऽपिसन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः। (नीतिशतकम)

हीन पुरुषों के समागम से बुद्धि क्षीण होती है, समानों से समता को तथा विशिष्ट पुरुषों के सहवास से विशेषता को प्राप्त होते हैं इसलिए दुष्टों से दूर ही रहना चाहिए।

बरु भल वास नरक कर ताता, दुष्ट संग जनि देहि विधाता।

(१६) सतयुग में ध्यान शक्ति थी, त्रेतायुग में मंत्र शक्ति थी। द्वापरयुग में यज्ञ शक्ति थी और कलियुग में केवल संघ-शक्ति है। "संघे शक्तिः कलौयुगे"।

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञंस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
सदाप्नोति तदाप्नोति, कलौ संकीर्त्य केशवम् ।
(विष्णुपुराण)

इसलिए भारतवासियों को संघशक्ति सम्पादन करनी चाहिए। जिनमें संगठन होता है वे ही सुख से रहते हैं। कोई भी बाहरी शक्ति आकर उनपर अपना अस्तित्व नहीं जमा सकती। यह संगठन एक मात्र प्रार्थना के ही द्वारा हो सकता है क्योंकि ईश-प्रार्थना में मानव मात्र सम्मिलित हो सकते हैं उसमें भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं। "सूत्रे मणिगणा इव" की भाँति सम्पूर्ण हिन्दू मानव समाज को संगठित होना चाहिए। ऋग्वेद में आता है!—

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् (वेद)

हम सब साथ चलें, साथ-साथ बोलें तथा अपने मन के

पारस्परिक विचारों द्वारा अपने उच्च लक्ष्य को बनावें। अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए सदैव सन्नद्ध रहें यह सब संगठन से ही हो सकता है। हमारा सनातनधर्म संकीर्णता नहीं सिखाता किन्तु उदारता का सुन्दर पाठ पढ़ाता है। इसलिए भेद-भाव को छोड़कर संगठित हो जाना चाहिए। यह संगठन-एकता का समय है। यदि तुम जीना चाहते हो तो संगठित होकर ही जी सकोगे। संगठन की उपयोगिता बतलाने के लिए वेद भगवान ने हमारे हिन्दूसमाज को शरीर की उपमा दी है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रोऽजायत॥

(यजुर्वेद)

उस विराट पुरुष का ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है। वैश्य जंघा है और शूद्र पाँव है। जिस प्रकार बाहु, धड़ तथा पाँवो के मेल बिना सिर व्यर्थ है और बाहु शिर आदि दूसरे भागों के बिना निरर्थक हैं। सभी अंगों के सम्मेलन में ही हमारे शरीर का स्वरूप सुरक्षित रह सकता है। ऐसे ही यदि हमें अपने इस हिन्दू समाज को किसी अन्य शक्ति से नष्ट नहीं होने देना है, तो आज एकता के एक सूत्र में प्रार्थना द्वारा संगठित हो जाँय। हमारी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में भी इस प्रकार कोई दोष न होगा तथा संगठन भी बना रह सकता है। अपने चतुर्थ वर्ग के छोटे भाइयों को अपनाने के लिए प्रत्येक हिन्दू का हृदय संकुचित न रहना चाहिए। क्योंकि उपेक्षा दृष्टि से रहने पर हमारे समाज में निर्बलता का होना स्वाभाविक है। इसलिये प्रत्येक हिन्दुत्व का उपासक अपने धर्म की रक्षा के लिए संगठन शक्ति को प्रबल बनावे। इसीसे हमारा समाज अभ्युन्नत हो सकेगा।

(१७) हिन्दू धर्म वीर धर्म है। हिन्दूओं को वीर बनना चाहिए। भगवान का यही उपदेश है।

"तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च" (गीता)

हे अर्जुन! तू सभी समय में मेरा स्मरण कर और सदा युद्ध करता रहे। दुष्टों से अत्याचारी गुण्डों से अपनी बहू बेटियों की लज्जा, धर्म बचाने के लिए अपने जान माल की तथा दीन-दुखियों की अपने भाइयों की रक्षा करने के लिए संगठित होकर, उन दुष्ट आततायियों को समूल नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि आततायी को मार देना ही योग्य है। "आततायी वधार्हणः"। आततायी ६ प्रकार के बतलाये गए हैं।

अग्निन्दो गरदश्चैव शस्त्रपाणिः भयावहाः।
क्षेत्रदारापहर्त्ताच षडेते ह्याततायिनः॥।

इसलिये इन हिन्दु धर्म पर बलात्कार करने वाले आततायियों को समाप्त करने में ही हमारी रक्षा हो सकेगी। स्वावलम्बन से ही मनुष्य सब कुछ कर सकता है। इस समय दूसरों पर भरोसा रख कर कुछ भी काम नहीं होगा। अपने कर्तव्य और धर्म को सतत स्मरण रखना चाहिये। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" के मूल मन्त्र से शक्ति प्राप्त कर किसी अन्य शक्ति के संहार हेतु से पीछे नहीं हटना चाहिये क्यों कि जिधर धर्म होगा उधरही विजय होगी। "यो धर्मस्ततो जयः"। हिन्दू शब्द का अर्थ ही यही है कि जो दुष्टों को दण्ड दे। "दुष्टान् हिनस्तीती हिन्दुः" हीनान् दुर्गुणान् दूषयति, सद्गुणान् भूषयती हिन्दुः,"॥ जो पुरुष दुर्गुणों को (दुर्बलता, कायरता, संकीर्णता आदि दोषों को दूषित कर निकाल देता है, और जो सद्गुणों को (वीरता,

एकता, उदारता आदि गुणों को) भूषण की तरह धारण करता है वह हिन्दू है। इसलिए हिन्दूमात्र से प्रेम करो, किसी को भी हेय दृष्टि से मत देखो। वही एक जीवात्मा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। इससे आदर्श पण्डित बनकर सब प्राणियों के हित में रत रहकर सच्चे हिन्दुत्व के पुजारी कहलाने के लिए अपने कर्तव्य को न भूलो। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं लोक भी उसी पथ का पथिक बनकर चलता है। इसलिए कुमार्ग पर पैर न रख कर सुमार्ग के ही बटोही बनना चाहिये।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवे तरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३-२१)

हमारा हिन्दूधर्म बार-बार यही संदेश सुनाता है कि सब आपस में प्रेम का व्यवहार करें। वैमनस्य के भाव को सदा दूर ही रखें। आदर्श राम राज्य में हमें इन्हीं सुन्दर संदेशों का रूप मिलता है।

बैर न करै काहु सन कोई, रामप्रताप विषयता खोई।
सब नर करहीं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्मनिरत श्रुति नीती

देश एवं जाति के कल्याण के लिए पारस्परिक वैर-विरोध तथा साम्प्रदायिकता को मिटा कर संगठित हो जाना चाहिये। प्रेम विनय से ही मेल होता है। मेल में बहुत बड़ी शक्ति है तथा शक्तिशाली पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं। कर्तव्य के पालन से सभी सुखी रह सकते हैं। यह हमारे सत्य सनातन-धर्म का सत्यं, शिवं, सुन्दरं उपदेश है। आग की छोटी चिनगारी को देख कर हम भय नहीं करते हैं, परन्तु जब वही चिनगारियाँ

अपने विशाल समूह में उपस्थित होती तब हम सचेत रहते हैं उसके पास तक जाने में भय लगता है। इसी प्रकार एक व्यक्ति से देश का संगठन नहीं हो सकता सम्पूर्ण समाज जब एक होकर एकता के सूत्र में बध कर "जय शिवशंकर हर हर गंगे" के तुमुल घोष करेगा तब इस केसरी की गर्जना को सुन कर इतर वैदेशिक जम्बुओं को भगाना ही पड़ेगा। इस लिये कलियुग में "संघे शक्तिः कलौयुगे" को यथार्थ रूप देकर अपनी रक्षा करें। सारांश यही है कि संगठन से ही अभ्युन्नति है और फूट से ही (वैमनस्य ही) अवनति है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा तथा उसके साधन

सभी वर्णाश्रमियों को ब्रह्मचर्य का महत्व समझकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। एक पत्नीव्रत पातिव्रत ऊर्ध्वरेता धारण आदि ब्रह्मचर्य के अवान्तर अंग हैं। वीर्य के रक्षण से ही पुरुष तेजस्वी, दीर्घ आयुष्मान, स्वस्थ, बलवान, मेधावी, धार्मिक भक्त एवं ज्ञानी होता है। वीर्य-भ्रष्ट मनुष्य निस्तेज, दुर्बल, बुद्धिशून्य, पापी, रोगी तथा शीघ्र ही मर जाता है। इसलिये विचारशील को चाहिए कि वह अमूल्य जीवनाधार वीर्य का सभी प्रकार के निरर्थक व्यय से रक्षण करें।

"मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्"

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा माहात्म्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया यह उनकी कठोर तपस्या है। "ब्रह्मचर्येणतपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत" ॥ आजन्म ब्रह्मचारी श्री भीष्म पितामह जी अपनी इच्छा से ही मृत्यु को प्राप्त हुए। श्री हनुमान जी के पौरुष से तो प्रत्येक धार्मिक समाज परिचित ही है यह उसी दिव्य तेज का महत्तम प्रकाश है।

हमारे पूर्व ऋषि-मुनियों ने चार वर्ण और चार आश्रमों का विधान किया है। चार आश्रम (१) ब्रह्मचर्य (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थ (४) सन्यास है। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य ही है जिसका कि विधान २५ वर्ष तक का है। इस अवस्था में मनुष्य अपनी उस अमोघ शक्ति का सञ्चय करे तथा इसी शक्ति का विराट रूप आगे चलकर अन्याश्रमों में प्राप्त होता है। जीवन का प्रथम सोपान ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ नींव पर ही अपनी शरीर रूप लम्बी दीवार स्थापित कर सकते हैं। इसकी रक्षा के लिए मनुष्य को अष्ट मैथुनों से सदा बचना चाहिए। ब्रह्मचर्य की ऐसी अवस्था है कि इसमें यदि ब्रह्मचारी अपने शुद्ध आहार, विहार तथा संयम से चलता रहे तो उसे अचिरकाल में ही साधन की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियों के संयम में शान्ति एवं सुख प्रत्यक्ष है। ब्रह्मचर्य की शक्ति से सम्पन्न पुरुष की प्रतिभा ही अलौकिक होती है। स्मरण शक्ति, धारणा शक्ति, इच्छा शक्ति तथा शरीर शक्ति अत्यन्त बलवती होती है। शरीर में स्फूर्ति तथा चमक आने पर ही ब्रह्मचर्य का पता चल जाता है। इन्द्रियसंयमी पुरुष कदापि रोगी नहीं होता जैसा कि कहा भी है—

"पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषुजितात्मा नरो न रोगी स्यात्"

संयम से भोजन करने वाला, यथासम्भव व्यायाम करने वाला एवं स्त्री के विषय में संयमी मन वाला मनुष्य कभी भी रोगादिक व्याधि के द्वारा नहीं सताया जा सकता। मन तथा इन्द्रियों को स्वतन्त्र कर देने से मनुष्य अपने हाथों ही कुठाराघात कर लेता है। वह तो मन जहाँ जाने की इच्छा करता है स्वतन्त्र छोड़ देता है। चाहे मन विषयों में जाकर अपनी वासना को तृप्त

करता रहे अथवा किसी उत्तम स्थान पर जाकर भगवच्चर्चा को सुने। भला यह भी तो विचारना चाहिए कि इसका परिणाम क्या होगा परिणाम भयंकर होगा। विषयासक्ति में पड़ा मानव किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो अपने जीवन की समाप्ति का ही स्वप्न देखता रहता है। जहाँ जहाँ असंयम वहीं रोग, शोक आदि का वास तथा अशान्ति का साम्राज्य देख पड़ता है। असंयमी पुरुष की वृत्ति कभी एकाग्र रह ही नहीं सकती वह ध्यान के समय में भी विषयों का अनर्थकारी ध्यान करेगा तथा अहर्निश विषयों के जाल में फँसे रहते हैं इसलिये मन को कभी भी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए। यह मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है।

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं, मुक्तं निर्विषयं मनः॥
(चा० नी०)

उसके लिए बन्धन ही विषयासक्ति है तथा विषयों से रहित मन ही मुक्त है। इसी हेतु गीता में भी कहा गया है कि अत्यन्त चञ्चल मन जहाँ जहाँ जाय वहाँ से हटाकर आत्मा में ही लगावे इसी से मन का संयम हो सकेगा।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्॥
ततस्ततो नियम्यैतत् आत्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता—६-२६)

श्री शंकराचार्य जी भी प्रश्नोत्तरी में लिखते हैं कि—

"जितं जगत्केन ? मनो हि येन"

सम्पूर्ण संसार को उसी ने अपने वश में कर लिया है जिसने कि अपने मन का निरोध कर लिया है। वास्तव में मन की ही

कुप्रवृत्तियों में पड़कर मनुष्य अपने का सर्वनाश कर लेता है। स्वतन्त्र तो वही है कि जो मन वाणी एवं शरीर द्वारा विषय-लोलुपता से मुक्त रहता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए आत्मसंयम की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य ही प्रभु-प्रेम एवं आत्मज्ञान प्राप्ति करने का प्रथम सोपान है। ब्रह्मचर्य को स्थिर रखने के लिए शारीरिक तितिक्षा का होना अनिवार्य है। ब्रह्मचारी को जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय का पूर्णरूप से संयम करना चाहिए क्योंकि सब इन्द्रियों में से यही दो इन्द्रियाँ ऐसी हैं कि जिनका निरोध अत्यधिक क्लिष्ट है। भोजन तो केवल शरीररक्षक के ही लिये है न कि रसास्वाद लेकर हम अपनी रसना को अतिचञ्चल बनावें। ब्रह्मचर्य की रक्षा नेत्रों के अचापल्य से भी होती है। नेत्र किसी सुन्दर वस्तु को देखकर उसकी प्राप्ति अवश्य चाहेंगे। इसी से नेत्रों को भी चञ्चल न रखना चाहिए। सदा भूमि की ही ओर देखकर चलना चाहिए। "न नेत्रचपलो यतिः" ब्रह्मचर्य शक्ति से प्रतिभापूर्ण ब्रह्मचारी को अश्लील, अपवित्र, उत्तेजक बातें कदापि श्रवण न करनी चाहिए, किन्तु प्रतिदिन एकाग्रचित्त से गीता, उपनिषद्, रामायण आदि धर्मशास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य के आदर्श वीर महापुरुषों की जीवनी तथा उनके चरित्र का अनुकरण करने से ब्रह्मचारी शक्तिशाली कर्मयोगी तथा आदर्श समाजसेवक होता है। श्री लखणलाल जी चौदह वर्ष तक भगवान राम तथा श्री जानकी जी की सेवा में रहे परन्तु उनकी दृष्टि सीता जी के चरण कमलों को छोड़ कर अन्य स्थान पर नहीं गई। यही आदर्श होता है दृढ़प्रतिज्ञ पुरुषों का। ब्रह्मचर्य की रक्षा का उत्तम साधन यह भी है कि शरीर में बार-बार दोष दृष्टि करना। वास्तव में शरीर में कोई रूप अथवा सौन्दर्य नहीं है यदि विचार से देखा जाय तो यही शरीर

रोग और दुर्गन्धि का आलय है। श्री मद्भागवत माहात्म्य के अध्याय ५ में जैसा कि वर्णित है:—

अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांस-शोणितलेपितम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पात्रं मूत्रपुरीषयोः ॥५८॥
जराशोक विपाकार्तं रोगमन्दिर-मातुरम्॥
दुष्पूरं दुर्धरं दुष्टं सदोषं क्षणभंगुरम् ॥५९॥
कृमिविट् यस्य संज्ञान्तं शरीर इति वर्णितम्।
अस्थिरेण स्थिरं कर्म कुतोऽयं साधयेन्नहि ॥६०॥

इस शरीर रूप मन्दिर में अस्थि के खम्भे नाड़ियों द्वारा बंधे हुए हैं। मांस और रक्त का पलस्तर लगा कर त्वचा से ढँका हुआ है। मल-मूत्र का पात्र है। जरा तथा अन्य क्लेशादिकों का परिणामी रोग से सम्पन्न है। यह शरीर सदोष, क्षणभंगुर, दुर्गन्धियुक्त ही है तथा अन्त में राख बन जाता है। यही अनित्य शरीर की व्याख्या है। कहीं भी इसमें सत्य का भात्र नहीं होता। ब्रह्मचारी देहाभिमान को कभी न रखे। अपने को सतत अक्षय अविनाशी तथा परमात्मरूप समझे और उसी अखण्ड अनन्त का एक मात्र ध्यान करे। विषय के विष की ओर देखे तक नहीं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, राग, द्वेष इन विषयों को त्यागने पर ही भगवान में ध्यान लगा सकता है। भगवान कहते हैं कि—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते।

विषयों का ध्यान करने से मन विषयों में ही पड़ जाता है तथा मेरे में लगाया हुआ चित्त मेरे ही स्वरूप में लय हो जाता

है। इसलिए अपने मन को शुद्ध और संकल्प रहित रख कर ही संयम का अभ्यास करे। मन भी दो प्रकार का कहा गया है।

मनो हि विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं, शुद्ध-काम-विवर्जितम्॥

अशुद्ध मन से कभी ध्यान नहीं लग सकता। मल, विक्षेप, आवरण को हटाकर काम-विवर्जित मन ही ध्यान के योग्य बन जाता है। मन का नाश हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति दुर्लभ नहीं।

"कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः"

ब्रह्मचर्य से नियम पूर्वक रहने वालों के लिए इन सब दोषों का परिहार करना कोई भी कठिन नहीं। उसे तो बस देहाभिमान के नाश होने पर ही परमात्मा के पास पहुँचने का संदेश शनैः-शनैः सुनने को मिल जाता है।

देहाभिमाने गलिते ज्ञानेन परमात्मनः।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

(चा० नी०)

परमात्मा के ज्ञान से, देहाभिमान के नाश हो जाने पर जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ समाधि ही है।

भगवान वेदव्यास जी ने शरीर की मलिनता ही तो दिखाई है—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भात्, निष्यन्दात् निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्, पण्डिताः ह्यशुचिं विदुः॥

स्थान, बीज, उपष्टम्भ, निस्यन्द, निधन तथा आधेय शौचरूप इन ६ हेतुओं से पण्डित लोग शरीर को महामलिन समझते हैं। इसलिये इस अनित्य शरीर की असारता को देखते हुए पतंग की भाँति मनुष्यों को अपने शरीर की शक्ति क्षीण नहीं कर देनी

चाहिये। प्रत्येक स्त्री पुरुष में इसी प्रकार दोष का दर्शन होने से अपनी वृत्तियों में कोई विकलता न उत्पन्न होगी तथा ब्रह्मचर्य के अतुल तेज की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी। श्मशान में भी जाकर शरीर की स्थिति का अनुभव करना चाहिये तथा शरीर की इस भीषण दुर्दशा को देख कर वैराग्य को प्राप्त हो जाना चाहिये।

राजसिक, तामसिक भोजनों का त्याग तथा सात्विक पदार्थों का सेवन करना भी ब्रह्मचर्य की रक्षा का उपाय है। ब्रह्मचारी को निम्नलिखित वस्तुओं का अवश्य ही परिहार कर देना चाहिए। तभी ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है।

वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
द्यूतंच जनवादं च परिवादं तथा नृतम्।
स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
अभ्यङ्गव्यञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभञ्च नर्तनं गीतवादनम्॥ (मनुस्मृतिः)

मनु जी ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मनुस्मृति में यह सब निषेध किया है। इन सब में बर्तने से कामोद्वेग बढ़ता है तथा विषयों की ओर अभिरुचि होती है।

प्राणायाम भी ब्रह्मचर्य रक्षा का साधन है। शास्त्रों में कहा है-

"प्राणायामः परं बलम्" प्राणायामैर्दहेद्दोषान्"

प्राणायाम परम बल है प्राणायाम से ही मनुष्य बलवान बनता है, बलवान ही काम पर विजय प्राप्त कर सकता है। निर्बल काम के वश में होकर ब्रह्मचर्य व्रत से पतित हो जाता

है। मानसिक बल काम-विजय का प्रधान कारण है। पवित्रता, एकाग्रता और दृढ़ निश्चय ही मनोबल है। इसलिये प्राणायाम की विधि को जान कर श्वास का निरोध करना चाहिए।

एकान्त निवास और भूमि-शयन भी ब्रह्मचर्य रक्षा का उपाय है। एकान्त निवास के लिए गीता कहती है।

"विविक्त-देशसेवित्वमरतिर्जन-संसदि ॥

शुद्ध हवा वाले स्थान में रहना तथा साधारण स्थिति के लोगों के समाज में नहीं रहना चाहिए। कुसंग से भी ब्रह्मचर्य की हानि होती है इसलिये नीच प्रकृति के पुरुषों के सहवास में न रहना चाहिए।

शीत सहन करना ब्रह्मचर्य रक्षा का साधन है। तितिक्षा से कामादि दोषों को शान्ति होती है। इसीलिए लिखा है :—

शीतोष्ण-सुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः"

शृंगार रसप्रधान नाटक, उपन्यास तथा अश्लील ग्रन्थों को छूना ही न चाहिये। सिनेमा, नृत्य आदि देखना वर्जित है। ब्रह्मचारी को कम से कम वस्त्रों का उपयोग करते हुए जीवन बिताना चाहिये। कौपीन तो अवश्य ही रखना चाहिये। विलासी पुरुषों से कभी सम्भाषण न करे तथा स्वयं भी शृंगारादि से दूर रहे। "दूसरों को मैं सुन्दर लगूँ" ऐसा भाव मन में न आने देना चाहिए। स्मृतियों का वचन है कि ब्रह्मचारी को पान खिलाने वाला नरक में जाता है अतः पान खाना, दर्पण देखना तथा तैल लगाना वर्जित है क्योंकि यह सब कामोद्दीपन में सहायक होते हैं।

एकान्त स्थान में व्यायाम, सूर्य-नमस्कार तथा आसन करना भी ब्रह्मचर्य की रक्षा के अंग हैं। सिद्धासन से पर्याप्त सफलता

होती है। इस प्रकार विधि से कहे हुए कर्मों के विधान से तथा निषेध के परिहार से ब्रह्मचर्य का परिपाक इतना सुन्दर होता है कि उसके जीवन में फिर विफलता हो ही नहीं सकती। इसी शक्ति को लेकर वीर पुरुषों ने समर-प्रांगण में अपने को बलिदान कर दिया तथा योगी एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारियों ने इसी स्फूर्ति-प्रदायक दिव्य तेज के बल से अपने चरमतम लक्ष्य को बेधने में पूर्ण सहायता प्राप्त की।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन बेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मुण्डकोपनिषद्)

अर्थात् ॐकार रूप धनुष पर आत्मा रूप बाण चढ़ाकर ब्रह्म लक्ष्य का बेधन प्रमाद-रहित होकर सावधानी से करे। बाण जिस प्रकार धनुष से छूटा हुआ लक्ष्य का ही बेधन करता है इसी प्रकार ब्रह्म प्राप्ति के लिए पूर्ण तन्मय हो जाना चाहिए और अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि करके उसी ब्रह्मानन्द में निमग्न रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य-सम्पन्न साधक को शीघ्र ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। आज मानव-समाज में इस ब्रह्मचर्य शक्ति का अत्यन्ताभाव है। जिसके फल-स्वरूप अकाल मृत्यु देखी जाती है। इसलिये सावधानी से इस शक्ति का संरक्षण करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य-वन्दना

ओ तेजपुञ्ज ओ दिव्यरूप ! ओ शक्ति सुधा के अनुपम स्रोत।
ओ सौन्दय निराले सुखमय ! ओ जागृत जीवन की ज्योत॥
ओ अनन्त के परिचायक ओ अमर भावनाओं के मूल।
ओ अद्भुत ओ भव्य सुगन्धित ओ मानुष उपवन के फूल॥

देह भवन के उज्ज्वल दीपक फणि की मणि वैदूर्य ललाम।
जग में केवल साररूप ओ ब्रह्मचर्य है तुम्हें प्रणाम ॥१॥
जिस तनु में आवास करे तू होवे वह सुख से भरपूर।
रोग शोक चिन्ता भय जड़ता ये सब उससे रहते दूर॥
उद्यम साहस क्रिया शक्ति औ पटुता का उसमें भण्डार।
भरा रहे नित, कमी न होवे, उसकी जीवन-रण में हार॥
अचल निराशा औ उद्योगों का है यह भीषण संग्राम।
इसमें तू आधार रूप ओ ब्रह्मचर्य है तुम्हें प्रणाम ॥२॥
जिसने तुम्हें न जाना अथवा किया नहीं तेरा सन्मान।
किंवा जान बूझकर भी जो, तुझसे वञ्चित रहा अजान॥
उसने जग में आकर के भी पाकर सब वैभव पर्याप्त।
पाया कुछ भी नहीं वृथा ही जीवन लीला करी समाप्त॥
तेरे बिना विभव सब फीके सकल साधनायें हैं वाम।
साधन मुख्य जगत में ओ तू ब्रह्मचर्य है तुझे प्रणाम ॥३॥
इन्द्रिय-संयम द्वारा जिसने तेरा सेवन किया यथार्थ।
सुगम रीति से साध सका वह अपना स्वार्थ और परमार्थ॥
तुझ अमूल्य निधि को संचितकर जिसने निज भण्डार भरा,
उसका जीवन-पुष्प निरन्तर नित नूतन है हरा भरा॥
तू है अक्षय कोश सुखों का ऋद्धि-सिद्धियों का तू धाम।
तेरी समता नहीं कहीं ओ ब्रह्मचर्य है तुझे प्रणाम ॥४॥

—:०:—

नारी समाज तथा उसका कर्तव्य

हमारे इस गौरवशील भारत देश का प्राचीनकाल कैसा था इसके लिए इतिहास मौन नहीं है। प्राचीनकाल से ही यह भारत आदर्श का उपासक रहा है। भारतीय संस्कृति के उच्चतम सिद्धान्तों का प्रकाशन इसी भारत में हुआ। विदेशों में इसके आदर्शों की ख्याति हुई। प्राचीनकाल में ऋषि महर्षि इसी भारत के गह्वर काननों में बैठ कर विश्व का हित सोचा करते थे। वे ऋषि मुनि अपनी सती साध्वी स्त्रियों को भी साथ में रखते थे। दाम्पत्य जीवन कितना सुन्दर बीतता होगा इसको जानने के लिए काननों की इन आदर्श पर्णकुटीरों तथा वहाँ के सात्विक आहार का स्मरण ही पर्याप्त है। भारतीय सिद्धान्तों के अकृत्रिम पुजारी यही आदर्श ऋषि मुनि रहे हैं तथा इन्हीं पूर्वजों द्वारा संरक्षित किया हुआ हमारा हिन्दुत्व प्रेमी समाज आज भी उन ऋषियों की अमिट स्मृति लिए हुए हैं।

वास्तव में पुरातन नारी-समाज के द्वारा ही आज भी सनातन धर्म की मर्यादा येनकेन प्रकारेण सुरक्षित रही है। एक समय वह था कि जब इसी भारत में शान्ति और श्रद्धा का सार्वभौम राज्य था, प्रत्येक मानव के घर में लक्ष्मी विराजमान थी। सदा सुमति के द्वारा प्रत्येक गृहस्थ अपना आनन्दमय जीवन व्यतीत करता था। दाम्पत्य जीवन कभी नैराश्ययुक्त तथा दुखी नहीं देखा गया। विवेक, विश्वास तथा पारस्परिक प्रेम ही इन आदर्श नर नारियों का भूषण था। दोनों ही श्रद्धा और भक्ति से अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। सादा जीवन और उच्च विचार को ही अपने आदर्शों का मूल मन्त्र समझते

थे। अरण्य में निवास करनेवाले स्त्रियों के सहित ऋषिगण अपनी दिनचर्या का समय निर्धारित करके तदनुसार कार्य करते थे। दोनों का जीवन शीलोञ्छ वृत्ति के ही आधार पर था। सुन्दर-सुन्दर लताओं द्वारा निर्मित कुटीरों में सुरभित सुमनों की महक से सम्पूर्ण कानन ऋतुराज की शोभा को उपस्थित करता था। धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं को साक्षात् ईश्वर की ही आज्ञा समझकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी शुभ कार्यों में दोनों अपना अमूल्य जीवन बिताया करते थे। कलह का बीज प्रायः स्त्रियों के ही द्वारा बोया जाता है। जिसमें कि फिर मनुष्यों को भी अकारण ही दूसरों से द्वेष अपनाना पड़ता है। परन्तु प्राचीन नारियों के आदर्श में इसका पूर्ण रूपेण अभाव था। वह सती, साध्वी स्त्रियाँ जो कि अपने पति को हीं एकमात्र अपना स्वामी मानती थीं, कभी भी द्वेष, ईर्ष्या, कटु भाषण, कलह तथा निन्दा के प्रपञ्च में नहीं पड़ती थीं। सबके घर में सुमति थी यहाँ तक कि उनकी सौम्य सन्तानें उसी सुमति का पाठ पढ़ा करती थीं। इसी से तो उन्हें कभी भी अपने गार्हस्थ जीवन में दरिद्रता, दुख का सामना नहीं करना पड़ता था। उन आदर्श पतिव्रताओं का भवन सुख सम्पत्ति से हँसता हुआ ही रहता था। श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी मानस में लिखते हैं—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना, जहाँ कुमति तहँ विपति निधाना

अर्थात् जहाँ सुमति के द्वारा कार्य होता रहता है वहाँ सम्पति का अभाव नहीं रहता परन्तु इसके विपरीत कुमति से रहने वालों की स्थिति दरिद्रता, दुख, तथा अन्य व्याधियों से युक्त रहती है। अपने सदाचार की अभ्युन्नति के लिए

सुमति जीवन में प्रयोग का बहुत सुन्दर साधन है। गार्हस्थ्य जीवन में रहकर केवल सुमति के द्वारा ही नर-नारी अपने को सबका प्रेमी बना सकते हैं तथा आदर्श का परिचय इसी से वस्तुत: मिल सकता है।

इस घोर कलिकाल में, जब कि अशान्ति तथा अत्याचार का भीषण नर्तन हो रहा है। दुराचार की अग्नि धधक रही है। व्यभिचार करने में कोई नियन्त्रण नहीं है, सर्वत्र दानवता की रणभेरी बज रही है! फिर भी आदर्श महिलाओं ने अपने धर्मशास्त्रों की मर्यादा का विलयन नहीं होने दिया। अपने सतीत्व की रक्षा के लिये अपने जीवन की कोई चिन्ता न की। जिन्होंने अपने पतियों से बिछुड़ कर इतर पुरुषों के सहवास में रहना नहीं सीखा। ऐसी पति-परायणा आज भी उस पुरातन आदर्श की सूचना दे रही हैं। वास्तव में इस युग में भी भारतवर्ष की लाज सदाचारिणी स्त्रियों के द्वारा ही बची हुई है। फिर भी गार्हस्थ्य जीवन बिताने वाले पुरुषों को आज की यह भीषण स्थिति देख कर कुछ कर्त्तव्य ही नहीं सूझ पड़ता। अपनी बहू बेटियों के सतीत्व हरण तथा बलात्कार का इन सुख से सोने वालों को कुछ भी ध्यान नहीं। अरे! आज जब तक आदर्श अबलाओं में अपना कुछ भी बल है तब तक तो वे अपनी रक्षा करेंगी ही, परन्तु तुम्हें भी तो कुछ कर्त्तव्य सोचना चाहिए। आज भारत में वैदेशिक पापाचारों का तूफान आ रहा है। जो तुम्हारा धन, बल, परिजन, मर्यादा सब कुछ उड़ा लेने को तत्पर हैं और तुम्हारी इन भोली माँ, बहिनोंको भी ले जाकर अपने घरों की दासियाँ बना रहे हैं। तब इनके उस भीषण रुदन तथा आन्तरिक वेदना में क्या तुम सहायक बनोगे? इनके सतीत्व हरण को क्या तुम यों ही आज भी

देखते रहोगे ?। नहीं ! तुम्हारा यह कर्त्तव्य नहीं है कि तुम्हारे एक अंग का कोई भेदन कर दे और तुम यों ही बैठे रहो। तुम मानवों ने उन्हें अपनी जीवन-सहचरी बनाकर अपना एक अंग माना है, परंतु आज उनपर आपत्ति आने पर तुम मूक बैठे रहो, यह उचित नहीं। उन बेचारी स्त्रियों ने अपने सुकोमल शरीर को तुम्हारी रक्षा तथा तुम्हारी भक्ति में सुखा दिया। तुम्हारे लिए अपना तन, मन, धन सब कुछ अर्पण कर दिया। तुम्हें कभी भी उदासीन एवं दुखित नहीं होने दिया, परन्तु मानव अपनी स्वार्थता के ही मार्ग पर चलता रहा। पाश्चात्य सभ्यता के शिक्षित मानवों ने अपने जीवन में इसी व्याख्या को अपना लिया है। धन्य हो मानव ! जो अबलायें कहलाती थीं, इन्होंने तो वास्तव में एकमात्र भक्ति को लेकर तुम्हारा पूर्ण सहयोग दिया परन्तु तुम सबल बनकर भी उन अबलाओं की रक्षा न कर सके। हमारे हिन्दू धर्म का तो यह आदर्श नहीं है। जैसा कि तुम स्वार्थवश सोच रहे हो। तुम्हारे लिये तो अबलाओं ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हें देकर अपनी जीवन-लीला समाप्त की। परन्तु मानव को उस उपकार का, प्रेम का, भक्ति का तथा सदाचार का कुछ भी ध्यान नहीं, किसी दूसरी अबला को अपनाने का व्याज लेकर अपनी काम वृत्तियों को यों ही जागरूक बनाए रखना चाहते हैं। नहीं ज्ञात इन प्रवृत्तियों के मानवों ने अपना क्या कर्त्तव्य सोच रखा है ? सनातन धर्म तो यही आदर्श देता है कि वंश परम्परा के चलाने के लिये एवं धर्मशास्त्रों की आज्ञा-पालन के लिये सदम्पति होकर रहो तथा आदर्श गृहस्थ बनकर सुन्दर सन्तान उत्पन्न करो। परन्तु मानव को कहाँ इसका ध्यान ? वह विषय वासनाओं की तृप्ति के ही लिये तो विवाह करता है। बस ! हमें इसके लिए कुछ

नहीं कहना है। केवल इतना ही निवेदन करना है कि अपने गार्हस्थ्य जीवन को सौख्यमय बनाओ तथा वास्तविकता के रूप को मिटने मत दो। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है। इसका विवरण पूर्व दिया जा चुका है। यहाँ पर केवल स्त्रियों के पातिव्रत धर्म तथा दैनिक आचार के विषय में शास्त्र तथा स्मृतियों के वचनों द्वारा कुछ प्रकाश डालना है। इससे पति-सेवा-परायण नारियों का जीवन आदर्श बन सकता है तथा वे घर की लक्ष्मी बन सकती हैं। पुरातन नारी समाज का आदर्श कैसा था। इसे भी स्त्रियों को जान लेना आवश्यक है और उनके आदर्शों को अपने आचरण में लाने की चेष्टा करनी चाहिए।

स्त्री हिन्दू समाज की पूज्या है। वास्तव में उसकी प्रतिष्ठा लक्ष्मी से कम नहीं है। जिस घर में स्त्रियों का सम्मान होता है। उन्हें घर की चेरी समझ कर नहीं रखा जाता। वहाँ देवताओं का वास होता है। इसीलिए लक्ष्मीस्वरूपा स्त्री घर को ज्योतिर्मय बनाने के लिये आती हैं। कहा भी है :—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनुस्मृतिः)

अर्थात् जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं। श्रद्धा तथा आदर की दृष्टि से देखते हुए जहाँ उन्हें अपने धर्म, कर्म करने में कोई आपत्ति नहीं है। वहाँ पर साक्षात् देवता आकर निवास करते हैं। परन्तु जहाँ इन्हें अपमान किया जाता है। इनकी भूख, प्यास की ओर ध्यान देनेवाला कोई नहीं, जहाँ इन्हें नीच सेविका की भाँति निरादर की दृष्टि से देखा जाता है। ऐसे घर

में किसी प्रकार के मनोरथ एवं क्रियाएँ पूर्ण नहीं होतीं, सब असफल हो जाती हैं। स्त्री समाज कभी भी हेय नहीं है। उसकी मान-मर्यादा रखने में हमारी ही मान, मर्यादा सुरक्षित रहती है तथा उसके ही अनुपम चरित्रों का प्रभाव भावी सन्तति पर पड़ता है।

पतिव्रता एवं धर्म-परायणा साध्वी स्त्रियों के कर्म महर्षि वेदव्यास जी ने व्यासस्मृति में अच्छे रूप से वर्णन किये हैं। आदर्श स्त्रियों को चाहिए कि वह इनसे अपने जीवन को सफल बनावें, तथा आचरण में लाकर सत्य धर्म का पालन करें, यही उनकी अभ्युन्नति का चरम साधन है।

पत्युः पूर्वं समुत्थाय देहशुद्धिं विधाय च।
उत्थाय शयनाद्यानि कृत्वा वेश्मविशोधनम्॥
मार्जनैर्लेपनैः प्राप्य साग्निशालां स्वमाङ्गणम्।
शोधयेदग्निकार्याणि स्निग्धान्युष्णेन वारिणा॥

श्री वेदव्यास जी कहते हैं कि आदर्श पति-परायणा स्त्री अपने पति से प्रथम उठे, फिर शौचादि नित्य कर्म करके अपने बिस्तर को उठावे। इधर उधर बिखरे पड़े हुए वस्त्र बर्तन आदि घर की वस्तुओं को यथास्थान रख देवे। अपने घर को प्रतिदिन झाड़ बुहार कर गोबर से लीप कर स्वच्छ बनाये रक्खे। यज्ञस्थान तथा पूजास्थान को सर्वदा पवित्र रक्खे तथा यज्ञ, पूजा और भोजन के पात्रों को स्वच्छ बनावे। किसी प्रकार की अशुद्धता न रहे, जो पात्र चिकने हों, उन्हें गर्म जल से धो डाले।

प्रोक्षण्यैरिति तान्येव यथास्थानं प्रकल्पयेत्।
द्वन्द्वपात्राणि सर्वाणि न कदाचिद् वियोजयेत्॥

शोधयित्वा तु पात्राणि पूरयित्वा तु धारयेत् ।
महानसस्य पात्राणि बहिः प्रचाल्य सर्वथा ॥

इस प्रकार उन पात्रों को स्वच्छ करके यथास्थान रख देवे। जुड़वाँ बर्तन अलग-अलग न रखे। जल के पात्रों को मिट्टी से माँज कर शुद्ध जल से युक्त रक्खे। अशुद्ध हाथों से मिट्टी के घड़े आदि को न छुवे, तथा रसोई के बर्तनों को सदा बाहर रखकर धोवे, रसोई में न धोवे।

मृद्भिश्च शोधयेच्चुल्लीं यत्राग्निं विन्यसेत्ततः ।
स्मृत्वा नियोगपात्राणि रसांश्च द्रविणानि च ॥
कृतपूर्वाह्न-कार्याणि स्वगुरूनभिवादयेत् ।
ताभ्यां भर्तृ-पितृभ्यां वा भ्रातृ-मातुल-बान्धवैः ॥

चूल्हे को प्रतिदिन मिट्टी से लीपकर वहाँ अग्नि रखे। फिर काम में आने वाले सब पात्रों को तथा पदार्थ आदि को स्मरण करके रसोई में यथास्थान रख दे, जिससे कि बार-बार बाहर न आना पड़े। धन का जितना खर्च पड़े उतना लेकर अपने पास रखना चाहिए। स्त्री को धन का व्यय कम करना ही उचित है। "व्यये चायुक्तहस्तया" का सदा ध्यान रखे क्योंकि उसे अपने स्वामी के ही धन से पूरे परिवार का पालन-पोषण करना है। अपने पति को नित्य नियमपूर्वक प्रणाम करे तथा अन्य सास, ससुर आदि को भी अभिवादन करे। उनके शुभ आशीषों से सदा अपने सुहाग की रक्षा रखनी-चाहिए।

वस्त्रालंकार रत्नानि प्रदत्तान्येव धारयेत् ।
मनोवाक्कर्मभिः शुद्धा पतिदेशानुवर्तिनी ॥

छायेवानुगता स्वच्छा सखीव हित-कर्मसु।
दासीवादिष्टकार्येषु शिष्येव सद्गुणाग्रहे॥

माता, पिता, सास, ससुर, भाई तथा मामा आदि अपने सम्बन्धियों से दिये हुए वस्त्रों एवं आभूषणों को धारण करे। सास, ससुर के जीवित रहने तक अपने पति से वस्त्रालङ्कार की इच्छा न रक्खे। क्योंकि इस समय दोनों ही अपने से बड़ों के आधीन हैं तथा उनका प्रेम इस प्रकार से घटने नहीं पाता। अन्यथा पुत्र और वधू स्वेच्छाचारी प्रतीत होते हैं। पतिव्रता को चाहिए कि वह मन, वाणी और कर्म से शुद्ध रह कर किसी प्रकार का छल प्रपञ्च तथा असत्य व्यवहार या भाषण न करे। छाया की तरह पति के आदेशों तथा संकेतों के अनुसार ही व्यवहार करे। उनकी आज्ञा का कभी भी उल्लंघन न करे। हित के कार्यों में पति को मित्र की भाँति उचित परामर्श भी देवे। सेवा कार्य में दासी की नाईं तत्पर रहे तथा शिष्य की तरह पति के बताये गुणों एवं आदेशों को धारण करे तथा—

विचारे मन्त्रितुल्या च भार्या भर्तुः सदा भवेत्।
ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्य तत्॥
वैश्वदेव-कृतैरन्नैर्भोजनीयाँश्च भोजयेत्।
पतिञ्चैवाभ्यनुज्ञाता सिद्धमन्नादिनात्मना॥

किसी गम्भीर विचार में स्त्री अपने पति को मन्त्रीवत् मन्त्रणा देवे। पति के सम्मुख अपवित्र वस्त्रों को कभी न पहने, अप्रसन्न मुख एवं विना शृंगार के पति के सम्मुख न रहे। पति की प्रसन्नता के लिए ही वस्त्रों तथा सुन्दर आभूषणों को

धारण करे। यदि पति यह नहीं चाहता तो वह सादे वस्त्रा-भूषणों से ही रहे। इसी में उसकी शोभा तथा पति-प्रसन्नता है। प्रीति तथा पवित्रता से रसोई बनाकर पति के लिए निवेदन करे। सुस्वादु भोजन के निर्माण से ही स्त्री के भाग्य का परिचय एवं उसकी गुण-चातुरी ज्ञात हो जाती है। पति भोजनालय में आकर नित्य प्रति होने वाली पञ्चस्थानीय हत्या के निवारण के लिए पञ्चयज्ञ करे। बलिवैश्वदेव की विधि से समाप्त करके घर के बाल, वृद्धों को भोजन करावे। बाहर से आये अतिथि को भोजन के समय सत्कारपूर्वक भोजन करावे। फिर पति को भोजन कराकर उनकी आज्ञा से स्वयं भोजन करे।

> भुक्त्वा नयेदहः शेषमायव्यय-विचिन्तया।
> पुनः सायं पुनः प्रातर्गृहशुद्धिं विधाय च॥
> कृतान्न-साधना साध्वी सुभृशं भोजयेत्पतिम्।
> नातितृप्त्या स्वयं भुक्त्वा गृहनीतिं विधाय च॥

भोजन के उपरान्त शेष दिन में घर की आमदनी व व्यय का विचार करे। गृहस्थोचित समस्त कलाओं तथा शिल्पकला का भी अभ्यास करे। अपवित्र, उच्छिष्ट पात्रों को स्वच्छ करे आदर्शपतिभक्ता सदाचारिणी स्त्रियों के चरित्र, गीत पढ़े अथवा सुने। किसी ऐसे स्थान में जाकर न बैठे जहाँ कुलटा, वेश्याओं आदि की दूषित बातें होती हों उन्हें तो बाहर भी पति की आज्ञा से जाना चाहिए। स्त्रियों को सूर्यास्त तथा सूर्योदय के समय में सोना तथा झाड़ना नहीं चाहिए। दोनों समय घर की शुद्धि करके सायंकाल को भी सुन्दर सुस्वादु भोजन बनाकर पति को खिलावे।

स्वयं कुछ कम खाकर रहे। इस प्रकार भोजन की क्रिया से निवृत्त हो जावे। उसके पश्चात्—

आस्तीर्य साधुशयनं ततः परिचरेत्पतिम्।
सुप्ते पत्यौ तदभ्यासे स्वपेत्तद्गतमानसा।
अनग्ना चाप्रमत्ता च निष्कायां च जितेन्द्रिया।
नोच्चैर्वदेन्न परुषं न बहून्पत्युरप्रियम् ॥

सम्पूर्ण घर की जाँच करके, द्वार की जंजीर को लगा देवें। जिसमें कि रात्रि को चोरी आदि का भय न रहे। फिर स्त्री पति के सोने के लिए वस्त्रों को शय्या पर बिछावे। वहीं बैठ कर पति की सेवा करे। प्रिय और मीठी-मीठी बातों से तथा अपने सुन्दर स्वभाव से पति के चित्त को प्रसन्न करे। जिनसे चिन्ता, क्षोभ और क्लेशादिक हो ऐसी बातें पति से न करनी चाहिये। जब पति को निद्रा आ जाय तो उन्हें प्रणाम करके उनका ध्यान करके वह भी सो जाय। स्त्री कभी भी नग्न, बेहोश न सोवे। सदा सावधानी पूर्वक शयन करे। उच्च स्वर से स्त्री कभी संभाषण तथा कठोर गर्जना न करे। तथा—

न केनचिच्च विवदेदप्रलाप-विलासिनी।
न चाति व्ययशीला स्यान्न धर्मार्थ-विरोधिनी ॥
प्रमादोन्माद रोषेर्ष्या वञ्चनं चातिमानिताम्।
पैशुन्यहिंसा विद्वेष-मोहाहंकार-धूर्तता ॥

स्त्री किसी के साथ विवाद, लड़ाई झगड़ा न करे। कुवचन और कुव्यङ्गों में सदाचारिणी स्त्री कभी भी अपना समय न दे। किसी वस्तु के विनाश में उसकी स्मृति आने पर दुःख तथा

विलाप न करे। अपने कार्य को अपने हाथों में ही संभाले। अधिक व्यय न करने से वह स्त्री सुलक्षणा समझी जाती है तथा स्वयं फिर लक्ष्मी उसके पास आया करती है। धर्मपालन में कभी प्रतिबन्ध उपस्थित न करे। सदा सन्मार्ग पर चले तथा धार्मिककृत्यों एवं पर्वों को श्रद्धा और उत्साह के साथ करे। सुहाग को रखने वाले पर्वों में कभी प्रमाद न करे। अपने परिवार के लोगों को किसी प्रकार का कष्ट न होने दे। उन सबकी यथोचित्त सेवा करके प्रसन्न रखने की चेष्टा करे। सदाचार-प्रिय स्त्री प्रमाद, उन्माद, रोष, ईर्ष्या, छल, कपट अपना अभिमान, चुगुली करना, वैर करना, धूर्तता तथा अहंकार को त्याग दे। तथा—

नास्तिक्यं साहसं स्तेयं दम्भान्साध्वी विवर्जयेत्।
एवं परिचरन्ती सा पतिं परमदैवतम्॥
यशः शमिह यात्येव परत्र च सलोकताम्॥

नास्तिकपन, उच्छृंखलता, साहस, चोरी, दम्भ इत्यादि के पास साध्वी स्त्री का पहुँचना ठीक नहीं। वह इन सबका परिहार कर दे। सदा पति-सेवा निष्काम भाव से करे। इस प्रकार वह शुद्ध सुलक्षणा सौभाग्यवती स्त्री अपने आराध्य चरणों की सेवा करने पर इस लोक में यश और कल्याण को प्राप्त करती है तथा परलोक में इस शरीर के छोड़ने पर पतिदेवता के ही सामीप्य एवं लोक को प्राप्त करती है।

पातिव्रत धर्म का पालन करने वाली आदर्श स्त्रियों के लिये मानस ने भी कुछ संकेत किया है। मातायें उस धर्म का पालन करने पर ही अपना पातिव्रतधर्म निभा सकती हैं। उनका एक धर्म,

व्रततपस्या और सदाचार यही है कि मनसा, वाचा, कर्मणा तथा शरीर से एकमात्र पति को अपना आराध्य समझ कर उनकी सेवा करें।

"एकइ धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पति पद प्रेमा"।

अत्रि मुनि की पत्नी अनसूया जी अपने पास विराजमान श्री महारानी सीता जी को नारि धर्म का उपदेश कर रही हैं। वे कहती हैं कि स्त्री जाति का एक मात्र धन पति ही है यदि स्त्री उनकी सेवा से वञ्चित रहे तो वह अत्यन्त नीच है। स्त्रियों की परीक्षा आपत्ति काल में हो जाती है। स्त्री को अपने भाग्यानुसार जैसा भी पति प्राप्त हो, उसकी सेवा करनी चाहिए। यदि स्त्री अपने पति को वृद्ध, रोगी, मूर्ख, दरिद्र, अंधा, बहरा, क्रोधी और अत्यन्त दीन प्राप्त करके सेवा न करे वरन् उसका अपमान करे तथा दूसरों के लिये अपना शृंगार करे तो वह स्त्री नरक में जाकर अत्यन्त दुख झेलती है तथा पतिवञ्चकता के भीषण कृत्यों पर धर्मराज के अनुयायियों के द्वारा दण्डित की जाती है। स्त्रियों को चाहिए कि वे अपनी इस अतुल सम्पत्ति को कभी भी तिरस्कृत न करें।

पतिव्रता संसार में चार प्रकार की देखी गयी हैं। उत्तम पतिव्रता सुलक्षणा वही है कि जिसे अपना पति छोड़कर स्वप्न में भी किसी अपर पुरुष की इच्छा न हो।

"उत्तम के वस अस मन माँहीं,
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं"

मध्यम कोटि की पतिव्रता वह हैं जो अपने पति पर तो पूर्ण अनुराग रखते हुए भी दूसरे पति पर दृष्टि रखती हैं। मध्यम

कोटि की स्त्री अपने धर्म कर्म का पालन करती रहती हैं। पर पतियों को भाई, पिता और पुत्र की नाईं देखती हैं ।।

मध्यम पर पति देखइ कैसे, भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।
बिनु अवसर भय ते रह जोई, जानेउ अधम नारि जग सोई।
पतिवञ्चक परपति रति करई, रौरव नरक कल्पसत परई॥

परन्तु जो स्त्रियाँ उच्च कुल और धर्म को समझ कर अवसर न मिल पाने से भयपूर्वक घर में रहती हैं। यही स्त्रियाँ श्री वेद भगवान् की आज्ञा से संसार में अधम मानी गई हैं। जिन्हें अपने पति की कुछ भी चिन्ता नहीं। अपने पति से छल प्रपञ्च करके दूसरे पति पर प्रेम करने वाली वे अधम स्त्रियाँ अनेक कल्पों तक रौरव नरक में कष्ट प्राप्त करती हैं। ऐसी स्त्रियाँ कभी भी अपने जीवन में गार्हस्थ्य का सच्चा सुख नहीं प्राप्त कर सकतीं तथा अपनी तरुणावस्था में ही वह स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं। इसलिये आदर्श पातिव्रतधर्म को पूर्ण निभाने वाली देवियाँ कभी भी अपने धर्म कर्म से च्युत न हों तथा उपरोक्त श्रुति स्मृति प्रतिपादित धर्माचरणों के पालन करने में ही अपने सुखतम जीवन का परमानन्द प्राप्त करें।

भारत की आदर्श नारियाँ, हिन्दू संस्कृति के सिद्धान्तों पर अपना सर्वस्व लुटाने वालीं, तथा पति की सेवा को साक्षात् परमेश्वर का ही पूजन समझने वाली देवियाँ, वर्तमान नारी-समाज के लिये प्रतीक हैं। भारत की अनेकों ऐसी नारियाँ हैं कि जो विद्वत्ता की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थीं। विद्वन्मनीषियों की मध्यस्था बन जिन्होंने पुरातन कालीन स्त्री-शिक्षा तथा पातिव्रत धर्म का परिचय दिया। मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी श्री सरस्वती

देवी जगद्गुरु शंकराचार्य तथा अपने पति के शास्त्रार्थ में निर्णा-यिका बनी थीं। अपने पति की पराजय होते देख जो जगद्गुरु से शास्त्रार्थ करने को तत्पर हुईं। उस समय स्त्री-समाज की शिक्षा बहुत ऊँचे स्तर पर थी। वहाँ की पनिहारियों ने जगद्गुरु के प्रश्न का उत्तर यों दिया था।

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणम् शुकाङ्गना यत्र विचारयन्ति।
द्वारस्थनीडान्तर सनिरुद्धमवेहि तन्मण्डनमिश्र-धाम॥

इससे पता चलता है कि उस समय स्त्रियों में शिक्षा का भी अत्यधिक प्रचार था। साथ ही साथ ये पति-सेवा की आदर्श विभूतियाँ थीं। प्राचीन काल में स्त्रियाँ साक्षात् देवियाँ मानी जाती थीं और उनकी उसी प्रकार पूजा होती थी। परन्तु जैसा कि आज कल लोग स्त्रियों को घर की जूतियाँ समझने लगे हैं और तदनुकूल व्यवहार करने लगे हैं। जो अपनी स्त्रियों को छोड़कर किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त होते हैं और अपनी सम्पत्ति को परिवार का पोषण न कर इधर-उधर के दूषित व्यसनों में व्यय करते हैं तथा जिन्हें किसी प्रकार भी अपनी मान-मर्यादा का ध्यान नहीं है ऐसे ही पुरुषों के पापाचारों की भीषण स्थिति हो जाने पर संसार में दुर्भिक्ष, मरण तथा भय का साम्राज्य हो जाता है।

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यापूज्यव्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

सनतान धर्म की रक्षा के लिये नर-नारी दोनों ही अपने-अपने कर्त्तव्य का पूर्ण पालन करने पर ही सच्चे सहयोगी समझे जा सकते हैं। याज्ञवल्क्य मुनि तथा उनकी धर्मपत्नी मैत्रेयी जी इसी आदर्श की उपासक थीं। अपने जीवन के लक्ष्य को निश्चित

करके ही इन दोनों विमल विभूतियों ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। गार्हस्थ्य जीवन की सरलतम रूप-रेखा को लेकर काननों की पर्णकुटी में रह कर वही आदर्श दिखाया जैसा कि गृहस्थों को चाहिए था। शीलोञ्छ वृत्ति अपना कर दोनों प्राणी उसी चरमतम साध्य की अभिलाषा से कृत प्रयत्न थे। एकान्त निवास कर, स्मृतियों की रचना कर नारी-समाज एवं पुरुष-समाज को मार्ग दिखाया। ब्रह्म-विचार ही पारस्परिक सलाप था। श्री याज्ञवल्क्य की शिक्षाओं और उपदेशों का मैत्रेयी जी पूर्ण पालन करती थी। मुनि की नैत्यिक क्रियाओं के पूरे साधन जुटा कर अन्य कार्य करती थीं। वास्तव में नियमों का पूर्ण पालन गृहस्थी में ही होता है और पुण्य, पाप करने का भी यही स्थान है। यदि स्त्रियाँ अपने श्रुति-प्रतिपादित कार्यों को यथाविधि करेंगी, तो कभी धर्म से च्युत न होंगी। आज कल की भाँति मैत्रेयी जी का आचार, व्यवहार न था। वह तो पति की सेवा करके ब्रह्म-प्राप्ति लक्ष्य के लिये भी सन्नद्ध थीं। इसका प्रमाण मैत्रेयी में मिलता है।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यं श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

आदर्श नारियों के चरित्र और उद्देश्य को सामने रखकर वर्तमान नारी-समाज को वही आदर्श उपस्थित करना चाहिए। अपनी सन्तानों को अच्छा, सुशील और सदाचारसम्पन्न बनाने के लिये ऋषियों तथा नारियोंके पवित्रतम उपदेश सुनना चाहिए।

आदर्श नारी मन्दालसा के चरित्रों को धार्मिक समाज जानता ही है। अपनी सन्तानों को जैसा व्यवहारकुशल एवं सदाचारी माताएँ बना सकती हैं, वैसा पुरुष नहीं बना सकते हैं, क्योंकि बच्चा माता के ही पास विशेष कर रहता है। वह सर्व प्रथम माता से परिचय प्राप्त कर लेता है। मन्दालसा को-

समाज का आदर्श है। इन्होंने पति की सेवा के साथ-साथ भावी सन्तानों को भी सेवा का पूर्ण भार ग्रहण किया। मन्दालसा ने अपने विवाह होने के लिये कुछ प्रतिज्ञायें रक्खी थीं। उन्होंने अपने पिता से कहा था कि जो इन प्रतिज्ञाओं को हमारे जीवन में निभायेगा हम उसी के साथ विवाह करेंगी। उसकी प्रतिज्ञा थी कि हमसे जो सन्तान उत्पन्न होगी उसको हमारा पति १२ वर्ष तक स्पर्श नहीं कर सकेगा। दूसरी प्रतिज्ञा यह थी कि यदि हमारे पति, सन्तान को शिक्षा न देने देंगे तो मैं राज्य छोड़ कर जंगल में चली जाऊँगी। इसी प्रकार हमारी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने वाला ही हमरा पति होगा। मन्दलसा का विवाह कुछ दिनों बाद हो गया। सन्तान उत्पन्न होने के पश्चात् मन्दालसा अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखती रही। समय आने पर अपने पुत्रों को बड़ी सुन्दर शिक्षा देने लगी मन्दालसा की शिक्षा पुत्रों के प्रति क्या थी तथा उनको बारह वर्षों में किस प्रकार विरक्त एवं संसार से एक दम निस्पृह बना दिया थी समाज को यह अनुकरणीय है।

> शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
> संसार-माया-परिवर्जितोऽसि।
> संसार-स्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
> मन्दालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥

मन्दालसा अपने पुत्र को यह आदर्श पाठ पढ़ाती थी कि तुम शुद्ध हो, तुममें कोई विकार नहीं, तुम्हारा रूप संकीर्ण नहीं, व्यापक है, फिर भी तुम अनेक होते हुए भी एक हो। तू इस सांसारिक माया के बन्धन में मत पड़ो। जो कुछ संसार में दृश्य-

मान है वह सब नश्वर है। मायिक पदार्थों का आदि अन्त कुछ भी नहीं है। केवल मनुष्य की प्रवृत्ति खींचने के लिए ही बीच में साकार बन गये हैं। शरीरान्त में कुछ भी काम नहीं देते। मोह में तुम अधिक मत सोचो। मोह का एकदम त्याग करके तुम अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अखण्ड रूप का ध्यान करो। आदर्श नारी के इस प्रकार के उपदेश पुत्रों ने श्रवण किए। जिसका कि फल यह हुआ कि सब विरक्त होकर जंगल में चले गये और माता की उस शुभ प्रेरणा से उन्हें पूर्ण सफलता मिली।

रामराज्य में आदर्श मातायें अपने पुत्रों को भी यही शिक्षा दिया करती थीं।

मातु पिता बालकन्ह बुलावहिं, बैठि परस्पर यहै सिखावहिं।
भजहु प्रणत प्रतिपालक रामहिं, शोभा सील रूप गुणधामहिं॥

श्री जानकी जी अपने प्राणवल्लभ की किस प्रकार परिचर्या करती थी यह नारियों के लिए जान लेना आवश्यक है। एक राजमहिषी होते हुए भी श्री जानकी जी ने इस पातिव्रत धर्म की रक्षा के लिए अपने सुकोमल शरीर भगवान की सब कुछ सेवा की, जो कि निष्काम भाव से ही की।

पति अनुकूल सदा रह सीता, सोभाखानि सुसील विनीता।
जानति कृपासिन्धु प्रभुताई, सेवति कमल चरन मनलाई।

श्री सीताजी पति के अनुकूल ही आचरण करती थीं वह अपने प्रभु से सब प्रकार परिचित थीं। अपने प्रभु की चरण-सेवा मन लगाकर अपने हाथों ही करती थीं।

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी, सब प्रकार सेवा विधि लीनी।
निज कर गृहपरिचर्या करहीं, रामचन्द्र आयसु अनुसरहीं।

एक राज भवन में रहनेवाली सीताजी के भगवान की सेवा करने के लिये सेवक और सेविकाओं का अभाव न था। परन्तु सीताजी भगवान की सेवा अपने हाथों ही करती थीं। श्री सीताजी अपने प्रभु के संकेतों तथा रुचि.को विलोका करतीं थीं। घर में सीताजी अपनी सास कौशल्या को काम कुछ भी न करने देती थीं। प्रतिदिन सीताजी उठ कर अपने पति गुरुजन सास आदि को प्रणाम करती थीं। यही उनका आदर्श था। श्रीराम जी के बन जाने पर सीता जी भी साथ चलने को तैयार हुईं। राम जी ने उन्हें जङ्गल के वहुत से कष्टों को बताया और कहा भी कि तुम यहीं माता,पिता की सेवा करो। तुम्हारा कोमल शरीर बन के योग्य नहीं। परन्तु सीता जी ने पति-वियोग में यह सब तुच्छ समझा। उन्होंने केवल राम जी को यही उत्तर दिया।

मैं पुनि समुझि दीख मनमाहीं, प्रिय वियोग सम दुख जग नाहीं।
प्राननाथ तुम विनु जग मांहीं, मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥

पति-सेवा में अपने शरीर को क्या चिन्ता? धन्य हो देवि! तुम्हारे इस आदर्श से नारी-समाज को बहुत कुछ मिला। तुम्हारे इस धर्म की कठोरता को देख अन्य स्त्रियाँ भी इसी धर्म को ग्रहण करेंगी।

राजा दिलीप की धर्मपत्नी सुदक्षिणा की पतिभक्ति भी आदर्श रही है। नन्दिनी की सेवा दोनों ने बड़े प्रेम से की। सुदक्षिणा दिन भर तो गौ की सेवा करती थीं और रात्रि में गौ सेवा से श्रमित अपने पति की। सुदक्षिणा ने अपनी भूख-प्यास को सब कुछ पति की आज्ञा तथा सेवा में ही अर्पित कर दिया था।

वशिष्ठ-पत्नी अरुन्धती अपने आदर्शवाद को निभाकर आज भी अमर बनी हुई हैं। पति-सेवा का जैसा फल वर्णित है कि शरीरान्त में स्त्री को पति का लोक तथा सामीप्य प्राप्त होता है। अरुन्धती को वशिष्ठ जी के समान ही नक्षत्र-मण्डलों में स्थान मिला है। यह कर्दम मुनि की कन्या थीं। कुछ किम्बदन्ती सुनी जाती है कि यह अरुन्धती नक्षत्र मरने के ६ महीने पहले से नहीं दिखाई पड़ता है। राम जी की गुरुमाता यही थीं।

राजर्षि मनु की धर्मपत्नी सतरूपा जी पति के साथ ही बस राजसी ठाट बाट को छोड़कर वन के लिए चल पड़ी। शतरूपा जी ने पति-सेवा के लिये अन्य कर्मचारियों को साथ में नहीं लिया। वल्कल वस्त्रों को धारण कर नैमिष के गह्वर वनों में तपस्या के लिए दोनों प्राणी आये हुए थे। पति के संकल्प ही इनके संकल्प थे। जो चाह मनु को थी वही चाह शतरूपा को थी। आज उसी अभिलाषा को सार्थक करने के लिए महारानी शतरूपा जी अपने पति के साथ एक पैर से खड़ी रहीं। पति के राजत्याग में इनके हास्य की मुस्कान थी। दोनों प्राणियों ने अपनी कठोर तपस्या से उन प्रभु का दर्शन किया। इन्हीं मनु से सम्पूर्ण सृष्टि हुई है। मनु का दाम्पत्य जीवन वेदप्रतिपाद्य ही था जो कि उनके जीवन की वास्तविक व्याख्या थी।

"दम्पति धर्म आचरन नीका,
अजहुँ गाव श्रुति जिन कै लीका"॥

अत्रि-पत्नी अनसूया जी की पतिसेवा कितनी प्रखर थी, इसकी परीक्षा के निमित्त ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश पधारे थे। परन्तु अनसूया के पातिव्रत को डिगा न सके। वह तो संसार

में अपने पति के सिवा और किसी को पुरुष जानती ही न थीं। इसीलिये इन तीनों देवों को बालक बनाकर अनसूया जी बहुत दिनों तक सेवा करती रहीं। पतिव्रताओं की आज्ञा से सूर्य भी ठहर जाते हैं, अपना प्रकाश मन्द कर देते हैं, वे भी इन पतिव्रताओं की तपस्या का मूल्य समझते हैं।

देवहूती राजर्षि मनु की कन्या का विवाह कर्दम ऋषि के साथ हुआ था। पति की सेवा करते-करते देवहूती वृद्ध हो चलीं, परन्तु कभी भी मुख पर अप्रसन्नता नहीं दिखाई दी। देवहूती कर्दम ऋषि के पूजास्थान को सजातीं, स्वच्छ करतीं एवं दिनचर्या का पूर्ण पालन करती थीं। पतिसेवा में अपना शृंगार करना यह राजकन्या भूल चुकी थी। बाल जटा के रूप को प्राप्त हो गये थे। ऐसी अवस्था के उपरान्त कर्दम ऋषि ने इनको अपने धर्म से जब पूर्ण पाया तो इन्होंने अपने जीवन में पत्नी की इस आदर्शवादिता का फल दिखाने के लिये तपोवन में सुन्दर सृष्टि की। दोनों प्राणी तरुण बन गये थे तथा गार्हस्थ्य जीवन के सब साधन यहाँ उपलब्ध थे। उन्हीं आदर्श पतिभक्ता देवहूती के पुत्र कपिलदेवजी थे। जो कि भगवान के अवतार थे जिन्होंने सांख्ययोग को रचा है।

धृतराष्ट्र पत्नी गान्धारी ने अपने पति को अन्धा देखकर जीवन भर के लिये नेत्रों में पट्टी बाँध रखी थी। अपने अन्धे पति को पाकर भी गान्धारी को कोई कष्ट ही न हुआ। मन, वचन, कर्म से सेवा करने लगीं।

आदर्श स्त्रियाँ जो कि अत्यन्त विदुषी होती हैं अपने पति को असत् मार्ग से हटाने का प्रयत्न करती हैं। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी की धर्मपत्नी रत्नावली इसी आदर्श में गिनी

जाती हैं। अपने पति के अति प्रेम एवं अमर्यादित व्यवहार को देख कर उन्हें यही कह देना पड़ा कि—

लाज न आवत आपको, दौरे आए नाथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ।
अस्थि चर्ममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
ऐसी जो भगवान में, होत तो क्यों भयभीत॥

बस! तुलसी के लिये नारी का व्यंग-सायक चुभ ही तो गया। उन्होंने अपने मार्ग को सत्पथ बनाने के लिये भगवच्चरण पकड़ा और आदर्श के सच्चे साथी बने।

इस प्रकार आदर्श पतिव्रताओं के चरित्र हिन्दू धर्म में कम नहीं हैं। धार्मिक नारी-समाज आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता को छोड़कर अपने उन्हीं आदर्शों को अमिट रखने के लिये इस ओर ध्यान दें तथा अपनी संस्कृति के जीर्ण शीर्ण कलेवर को अभिनव पुरातन रूप देने के लिये अपने शुद्ध धर्मों का पालन करें। आधुनिक पापा चारों को मिलकर समूल नष्ट करने का प्रयत्न करें तथा अपनी वियोगिनी माँ, बहिनों को एकता एवं प्रेम का शुभ संदेश देते हुए हिन्दू नारी-समाज की विघटित रीतियों का उन्मूलन करके उसी रामराज्य का आदर्श उपस्थित करें। जहाँ पर अपने धर्म-कर्ममें कोई नियन्त्रण नहीं था।

वरणाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय शोक न रोग॥

सब वर्ण और आश्रम के अनुसार वेद भगवान की आज्ञा का पालन करते हुए अपने-अपने धर्म का ध्यान रखते थे। ऐसी क्रिया

होने पर सब अत्यन्त सुखी एवं भय, शोक तथा रोग से रहित रहते थे। आदर्श नारियों के द्वारा वह रामराज्य दूर नहीं है। आज भी यही रूप सर्वत्र दीख पड़ सकता है। जो कि मानस-गायक की एक अलौकिक ध्वनि से निकल रहा है।

राम भक्ति रत नर अरु नारी, सकल परम गति के अधिकारी।
सब निर्दंभ धर्मरत धरनी, नर अरु नारि चतुर शुभ करनी॥
सब उदार सब पर उपकारी, द्विज सेवक सब नर अरु नारी।
एक नारिव्रत रत नर भारी, ते मन वच क्रम पति हितकारी॥

नर, नारी-समाज अपने कर्त्तव्य-पथ की शिक्षा से दीक्षित होकर अपनी भावी सन्तानों को कर्मवीर धर्मवीर तथा सत्य सनातन धर्म के प्रेमी बनावें। राष्ट्र के भावी कर्णधारभूत इन्हीं अपनी सन्तानों को राणा प्रताप, वीर शिवा जी, गुरु गोविन्द के गुरुतर कार्यों की शिक्षा दें। वीर हकीकत का धर्मपालन सिखावें। ध्रुव, प्रह्लाद आदि भक्त बालकों के सदृश अपनी सन्तानें बनावें तथा देश, जाति, धर्म पर आई हुई भीषण परिस्थितियों के निवारण में कृतप्रयत्न हों यही नारी-समाज की शिक्षा आधुनिक देश के लिये अभिलषित है। नारी-समाज का ध्यान अवश्य ही इस ओर आकृष्ट होगा।

प्रार्थना का महत्व तथा आवश्यकता

प्रार्थना का रूप सनातन है। इसका आदि मध्य और अवसान कब है? इसका पता नहीं लग सकता। प्रार्थना का अर्थ ही यही है कि "प्रार्थ्यतेऽनेनेति प्रार्थना" अत्यन्त दीन भाव से विनय करना। भगवद्भक्तों पर जब जब आपत्ति पड़ी है तब-

तब भगवान उनकी रक्षा के लिये दौड़े हैं। भगवान का अवतार भक्तों के कष्ट निवारण के लिये ही होता है। जैसा कि भगवान अपने श्रीमुख से गीता में कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

(गीता ४–७, ८)

हे अर्जुन ? जब जब धर्म की हानि और अधर्म की अधिकता होने लगती है, तब तब ही मैं अपने रूप को प्रकट करता हूँ तथा इस धराधाम पर सज्जनों की रक्षा के लिये, दुष्टों का संहार करने के लिये तथा धर्म की मर्यादा सुरक्षित रखने के लिये ही मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ।

भगवान के इन वाक्यों में कितना सौहार्द है, यह तो वही जान सकता है कि जिसने वहाँ तक अपनी पुकार पहुँचाई हो। भगवान भक्तों की प्रार्थना सदा सुनने के लिये प्रस्तुत रहते हैं। परन्तु प्रार्थी भगवान तक अपनी प्रार्थना पहुँचाना ही नहीं चाहता, वह तो अपने सांसारिक लोगों से ही प्रार्थना करने की अभिलाषा रखता है। भगवान की ही सम्पूर्ण सृष्टि है। इसमें भगवान के समान ऐसा कोई नहीं है कि जिसे हम अपनी प्रार्थना सुनावें।

भगवान के पास जो अपने सब शक्ति-साधनों को छोड़कर दीनभाव से एक मात्र उन्हींका होकर रहता है, उसे भगवान अपना सब कुछ दे देते हैं। द्रौपदी ने जबतक अपने पतियों

तथा अन्य गुरुजनों से सहायता प्राप्त करनी चाही तथा तब-तक भगवान ने उसकी रक्षा में विलम्ब किया। क्योंकि भगवान तो "निर्बल के बल" हैं। बलवान के पास क्यों आ सकेंगे। परन्तु द्रौपदी ने जब इन सबका आश्रय छोड़ा और एकमात्र अपने प्यारे की शरण ली, फिर क्या था उसे आने में तो कोई विलम्ब नहीं वह तो सर्वत्र व्याप्त है ही, बस केवल प्रेम और पूर्ण विश्वास चाहिए। द्रौपदी की लज्जा बचाने भगवान दौड़ ही तो पड़े।

रामहिं केवल प्रेम पियारा, जानि लेहु जो जाननि हारा।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

द्रौपदी की इतनी ही प्रार्थना पर "गोविन्द आओ रक्षा करो मेरी लज्जा तुम्हारे हो हाथ है" नंगे पैरों दौड़ आए। दुष्ट दुःशासन की भुजायें वस्त्र खींचते-खींचते थक गईं। परन्तु उस सनाथा को नग्न न कर सका। यह केवल भगवान की प्रार्थना का ही फल है।

"कृष्ण ने हे गो कहा, कह न सकी फिर विन्द।
आ रक्षा पहले करी, ऐसा वह गोविन्द॥"

जब तक मनुष्य अपने को भगवान में अर्पित नहीं करता तभी तक उसे अपनी चिन्ता है। भगवान अर्जुन के लिए तो एक मात्र यही आदेश देते हैं कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८-६६)

हे अर्जुन ? सब धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्याग कर तू केवल एक मुझ परमात्मा की ही शरण में प्राप्त हो जा। तू लज्जा, भय, मान, बड़ाई, परिवार तथा आसक्ति का त्याग कर दे। शरीर में अहंत्व, ममत्व की वासना छोड़ दे तो मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। अर्जुन को सन्देह हो जाने पर प्रार्थना ही तो काम में आई।

"शिष्यस्तेऽहं शाधि मांत्वांप्रपन्नम्"

बस; बिलम्ब प्रार्थना का ही था। भगवान ने ज्ञान द्वारा उनका सम्पूर्ण अज्ञान हरण कर लिया। प्रार्थना में इतनी शक्ति है कि पुरुष का अन्तःकरण अत्यन्त द्रवित हो जाता है तथा शुद्ध अन्तःकरण से ही प्रार्थना करने पर कष्टों का निवारण भी हो जाता है। गज की सम्पूर्ण शक्ति जब तक ग्राह ने नहीं लेली तबतक भगवान भी यह सब देखते रहे। परन्तु तनिक सूँड़ के ऊपर रह जाने पर उसकी प्रार्थना भगवान ने सुनी और गज की रक्षा की। कुन्ती ने अत्यन्त विनीत हो भगवान से यही प्रर्थना की कि भगवन्! हमें आप दुःख ही प्रदान करें क्यों कि दुःख में आपका स्मरण सतत रहता है। इससे आपके मैं बार-बार दर्शन करती रहूँगी।

विपदः सन्तु नः शश्वद् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादभवत्पुनर्दर्शनम् ॥

(भागवत)

भगवान से जो जिस इच्छा से प्रार्थना करता है। वही पूरा भी करते हैं। ध्रुव की प्रार्थना भगवान से राज्य की कामना से हुई थी इसी से उसे राज्य मिला। प्रहलाद की प्रार्थना भगवान के दर्शन के लिये थी। प्रार्थना करने पर भगवान

कभो भी नहीं रुके। भक्तों का हृदय कारुणिक होता है। वह अपने धर्म पर, देश पर तथा पृथ्वी पर होने वाले अत्याचारों को कैसे सहते। रावण के भीषण अत्याचारों से जब वसुन्धरा काँप उठी थीं। ऋषि मुनियों की मण्डली कहीं भो स्वच्छन्दता पूर्वक अपने यज्ञ आदिकों को न कर पाती थीं। गुफाओं में इन्द्रादिक सम्पूर्ण देवता छिपकर अपने प्राणों की रक्षा करते थे। कहीं भी धर्म, भक्ति का नाम लेने पर मनुष्य काल के घाट उतारे जाते थे सम्पूर्ण मानव तथा देवता उसके अत्याचार से भयभीत रहते थे। राक्षस रावण ने तो अपने सार्वभौम राज्य में असुरों को यह घोषणा कर दी थी कि पृथ्वी भर के सम्पूर्ण देवताओं तथा मनुष्यादिकों को एक दम नष्ट कर दो।

बस—

जेहि जेहि देश धेनु द्विज पावहिं, नगर गाँव पुर आग लगावहिं।
द्विज भोजन मख होम सराधा, जहँ तहँ जाइ करहु तुम बाधा॥

रावण के इन संदेशों को लेकर आसुरी सैन्य ने सम्पूर्ण गौ, ब्राह्मणों की हत्या करना प्रारम्भ कर दिया। सम्पूर्ण गाँवों, नगरों में आग लगा लगा कर प्राणियों को अत्यन्त कष्ट देने लगे। यज्ञादिकों में हविष्य के स्थान पर अस्थि, विष्ठा आदि डालने लगे।

करहिं उपद्रव असुर निकाया, नाना रूप धरहिं करि माया।
जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला, सो सई करहिं वेद प्रति कूला।

असुर लोग इतना होने पर भी शान्तिपूर्वक नहीं बैठे। धर्म-ग्रन्थों को जलाना भी प्रारम्भ कर दिया। मन्दिरों को ढ़हाने लगे तथा स्त्रियों की दुर्दशा करने लगे। धर्म का विनाश

जिस प्रकार हो सकता था उसी प्रकार वह वेद-विरुद्ध आचरण करते थे।

शुभ आचरण कतहुँ नहिं होई, वेद विप्रगुरुमान न कोई।
नहिं हरि भक्त यज्ञ तप दाना, सपनेउ सुनिय न वेद पुराना।

असुरों को यह सब कार्य करने में कोई भय न था। उनकी इस प्रकार की अनीति और अनाचार को देखकर सम्पूर्ण मानव तथा देवता त्राहि त्राहि चिल्लाने लगे। मनुष्यों को ऐसी परिस्थिति में कुछ ज्ञात नहीं था कि क्या करें। मारो, काटो के गम्भीर नादों एवं प्रतिक्रिया से धरा रक्तरंजित हो गई थी पृथिवी पर चोर, जुआरी, दुष्ट, आततायी ही दिखाई पड़ने लगे। असुरो की इस माया को देखकर पृथिवी भी काँपने लगी और इससे त्राण पाने के लिये ब्रह्मा के पास गौरूप बनाकर गई, परन्तु ब्रह्मा भो क्या करते सब थर-थर काँप रहे थे। उस दुष्ट रावण के कृत्यों को देखकर। भगवान के वाक्यों का स्मरण करके सम्पूर्ण त्रस्त समुदाय अत्यन्त दीन हीन हो एक स्थान पर खड़े होकर उस दीन दयालु भक्त-भयटारन को बुलाने लगे। अति विनीत भाव से स्तुति करने के उपरान्त ही आकाशवाणी हुई कि—

जनि डर पहु मुनि सिद्ध सुरेशा,
तुम्हहिं लागि धरिहहुँ नर बेशा।

तुम्हारे कष्ट निवारण के लिये अब हमारा अवतार होगा। तुम्हारी प्रार्थना विफल नहीं जायगी। तुम्हारी प्रार्थना में वेदना भरी है। शुद्ध अन्तःकरण से निकली है। भला फिर क्यों न तुम्हारी महापत्ति का निवारण हो। आकाशवाणी के

सन्तोषमय इन मंत्रों को सुनकर त्रस्त समुदाय को कुछ शान्ति मिली। भगवान ने नर रूप धारण कर ऐसे आततायियों को नष्ट ही तो कर दिया, केवल एकमात्र प्रार्थना के बल पर।

आज मानव के ऊपर वैसा ही घोर संकट आ पड़ा है। मानव को अनीति का पाठ पढ़ाकर उसका सर्वनाश किया जा रहा है। माँ, बहिनों की मर्यादा भंग की जा रही है। धर्म पर नित्यप्रति नये-नये आघात-प्रत्याघात हो रहे हैं। धर्मशास्त्रों तथा धार्मिक स्थानों की मर्यादा एकदम नष्ट सी होने जा रही है। गौ, ब्राह्मणों की कोई सुनने वाला नहीं। हिंसा, चोरी, लूट-मार तथा पापाचार के प्रतिदिन ताण्डव नृत्य हो रहे हैं। ऐसी भीषण परिस्थिति में मानव को अपना कर्त्तव्य सोचना चाहिए। मानव यदि अब भी सचेत न होगा तो फिर कभी भी सुख की नींद न सो सकेगा। सदा के लिये परतन्त्रता की गम्भीर श्रृंखलाओं से पुनः आबद्ध हो जाना पड़ेगा। तब तुम्हारे कहाँ धर्मशास्त्र, कहाँ गौ, कहाँ वे भोली बिचारी माँ, बहिनें और कहाँ तुम्हारे वह कर्म। सब के सब रसातल में चले जायेंगे और आसुरी सैन्य के अधिनायक का एक क्षण राज्य इस भारत देश में होगा। भारतीयो! अब भी सोचो अपने कर्त्तव्य को—और एकदम संगठित हो जाओ। "संघे शक्तिः कलौयुगे" को अपना कर आज सब हिन्दू-समाज प्रार्थना के सहारे पर संगठन-सूत्र में आबद्ध हो जाँय। अपने सम्पूर्ण हिन्दू-समाज के लिए अपनी विशाल भुजाओं को आगे बढ़ावें और सब को साथ में लेकर उसी परमात्मा की प्रार्थना करने लगें। हम सब मिलकर एक समय यदि निरन्तर श्रद्धा भक्ति से इस पापाचार से मुक्त होने के लिये

उस परमात्मा की प्रार्थना करेंगे, तो निश्चय है कि हमसब को प्राचीन प्रार्थियों की भाँति सफलता अवश्य प्राप्त होगी। सम्पूर्ण कष्ट का निवारण अवश्य होगा और तभी हम अपने धर्म, कर्म को विधि-विधान से करते रहेंगे। इसलिये हमें एक स्वर में उस परमात्मा की प्रार्थना करनी चाहिए। नियमतः करने से सफलता देवी का वरदहस्त हिन्दू-समाज पर ही होगा।

"दीर्घ काल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः॥ (योगसूत्र)

पातञ्जलि के इस सूत्र का ध्यान सतत रखते हुए उस परमात्मा की दीर्घकाल तक, निरन्तर और सत्कारपूर्वक प्रार्थना का एक स्वर में मधुर गायन करें। जो कि देवताओं और मनुष्यों ने अपने संकठ काल में की थी।

जय जय सुर नायक जन सुख दायक प्रणतपाल भगवन्ता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिन्धु सुता प्रिय कन्ता।
पालन सुर धरणी अद्भुत करणी मर्म न जानै कोई।
जो सहज कृपाला दीन दयाला करहु अनुग्रह सोई।

जय जय अविनासी सब घटवासी व्यापक परमानन्दा।
अविगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुन्दा।
जेहिं लागि विरागी अति अनुरागी विगत मोह मुनि वृन्दा।
निशि वासर ध्यावहिं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानन्दा।

जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करहु अघारी चिन्त हमारी जानिय भक्ति न पूजा।

जो भवभय भञ्जन मुनि मन रञ्जन गञ्जन विपति बरूथा।
मन वच क्रम बाणी छाड़ि सयानी सरण सकल सुर यूथा।
सारद श्रुति सेषा ऋषय असेषा जाकहँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवहु सो श्री भगवाना।
भव वारिधि मन्दर सब विधि सुन्दर गुन मन्दिर सुखपुञ्जा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कञ्जा।

जब यही प्रार्थना भक्तों के अतिस्वर से निकलेगी, उन्हें भगवान के सिवा कोई दूसरा रक्षक नहीं है इसका सतत ध्यान रहेगा। तब भगवान किसी रूप में आकर रक्षा अवश्य करेंगे। तथा अधर्म की ओर जाती हुई जनता को शुभ सन्मार्ग दिखा कर आततायी दुष्ट समाज का संहार करेंगे। विश्वास ही जीवन की एकमात्र कसौटी है। "विश्वासो फलदायकः" इसलिए श्रद्धा या विश्वास पूर्वक भगवान की नित्य नियम से प्रार्थना करनी चाहिए। भगवान से शक्ति प्राप्त करने के लिये तथा आन्तरिक विकारों की जड़ता मिटाने के लिये सदा प्रार्थना करनी चाहिए। अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने से संकल्प की सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है तथा साधन करने में स्थिरता प्राप्त होती है। अन्तःशुद्धि हो जाने से पारस्परिक मनमुटाव दूर हो जाता है। प्रार्थना के बल पर ही सर्वप्राणियों में भाई का सा प्रेम हो जाता है। सात्विकी वृत्ति हो जाने पर शनैः-शनैः इन भावों में प्रबलता आती रहती है तथा भाव-गांभीर्य से मानव के हृदय का परिचय प्राप्त हो जाता है। मानव मात्र के संगठन-सूत्र में बँध जाने पर हिन्दुत्व का पूर्ण आदर्श दिखाया जा

सकता है। हृदय के विकारों को दूर करना ही सच्ची साधना है और यह साधना अपना वास्तविक रूप तभी धारण करेगी जब कि हम सब अपने अहम्त्व को भुलाकर सम्पूर्ण समाज को साथ में लेकर विश्व-शान्ति तथा देश, धर्म और जाति के लिये सच्चा संदेश देने की अभिलाषा से उस परमात्मा से यह याचना करेंगे—

वह शक्ति हमें दो दयानिधे ! कर्तव्य मार्ग पर डट जावें।
परसेवा पर उपकार में हम, जग जीवन सफल बना जावें।

हम दीन दुखी निबलों विकलों के सेवक बन सन्ताप हरें।
जो हैं अटके भूले भटके उनको तारें हम तर जावें।
छल, दम्भ, द्वेष, पाखण्ड, झूठ, अन्याय से निशदिन दूर रहें।
जीवन हो शुद्ध सरल अपना, शुचि प्रेम सुधा रस बरसावें।

निज आन कान मर्यादा का, प्रभु ध्यान रहे अभिमान रहे।
निज देश जाति में जन्म लिया बलिदान उसी पर हो जावें।

प्रार्थना हिन्दुत्व के सच्चे उपासकों के लिए कर्मभूमि में प्रवेश करने की तथा अमित समाज को वास्तविकता का रूप दिखाने की सुन्दरतम साधना है। व्यक्तित्व के ही द्वारा मनुष्य संसार में अपनी स्थितिं सुदृढ़ रख सकता है तथा समाज का सच्चा सेवक वही बन सकता है, जिसने कि अपने को वास्तिविकता के साँचे में ढाल लिया हो।

आधुनिक समाज को चाहिए कि वर्तमान परिस्थितिं को देखते हुए शास्त्रों की आज्ञानुसार धर्माचार्यों द्वारा कहे हुए श्रुति, स्मृति एवं पुराणोक्त आदर्शों का पालन करे तथा एकता के सूत्र

से संगठित होकर इस महती अशान्ति को मिटाने के लिए भगवान से प्रार्थना करे। समाज का हित इसी में निहित है:—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

दश उपदेश

१—संसार को स्वप्नवत् जानो।

२—अति साहस रक्खो।

३—अखण्डप्रफुल्लित रहो, दुख में भी।

४—परमात्मा का स्मरण करो, जितना बन सके।

५—किसी को दुख मत दो, बने तो सुख दो।

६—सभी पर अति प्रेम रक्खो।

७—नूतन बालवत्; स्वभाव रक्खो।

८—मर्यादानुसार चलो।

९—अखण्ड पुरुषार्थ करो, गंगाप्रवाहवत्-आलसी मत बनो।

१०—जिसमें तुमको नीचा देखना पड़े-ऐसा काम मत करो। इन सबका सार परमात्मा का मानसिक स्मरण करो।

पुरुषार्थ करो, परम पुरुषार्थ करो, परोपकार करो। माया से गाँठ खोलो।

"बोलो श्री गुरुदेव भगवान की जय।"

ॐ शान्तिः! ॐ शान्तिः!! ॐ शान्तिः!!!

तत्सद् ब्रह्मार्पणमस्तु